तब से उन्होंने सादा जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। छोटी सी धोती पहनते थे जो घुटने तक आती थी। आप जरा अपनी ओर देखें, आपके जीवन में कितना व्यर्थ खर्च हो रहा है। जो किसी और के काम आ सकता था, वह व्यर्थ ही नष्ट हो रहा हैं

आप भारत के नागरिक हैं। गांधी जी भारत के नेता माने जाते थे। उनका जीवन कितना आदर्श था। उन्हें दूसरे के दुख का अनुभव था। उनके पास वास्तविक ज्ञान था। ज्ञान का अर्थ है देखने की आँखे। ऐसी आँखे उनके पास थीं जिनमें करुणा का जल छलकता रहता था। धर्म यही है कि दीन-दुखी जीवों को देखकर आँखों में करुणा का जल छलक आये अन्यथा छिद्र तो नारियल में भी हुआ करते हैं। दयाहीन आंखें नारियल के छिद्र के समान हैं। जिस ज्ञान के माध्यम से प्राणीमात्र के प्रति संवेदना जागृत नहीं होती उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं और वे आँखें किसी काम की नहीं जिनमें देखने-जानने के बाद भी संवेदना की दो-तीन बूँदे नहीं छलकती।

एक अंधे व्यक्ति को हमने देखा था। दूसरे के दुख की बात सुनकर उसकी आँखों में पानी आ रहा था। मुझे लगा वे आँखें बहुत अच्छी हैं जिनसे भले ही दिखायी नहीं देता लेकिन करुणा का जल तो छलकता रहता है। गांधी जी के पास पर्याप्त ज्ञान था, विलायत जाकर उन्होंने अध्ययन किया और बैरिस्टर बने। बैरिस्टर बहुत कम लोग बन पाते हैं। यह उपाधि भी भारत में नहीं, विलायत से मिलती है। इतना सब होने पर भी उनके भीतर धर्म था, संवेदना थी। वे दया धर्म को जीवन का प्रमुख अंग मानते थे। या कहो कि जीवन ही मानते थे। उनके जीवन की ऐसी कई घटनायें हैं जो हमें दया से अभिभूत कर देती है।

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लौं घट में प्राण॥

वह जो समय हमें मिला है जो कुछ उपलब्धियाँ हुई हैं, वह पूरी की पूरी उपलब्धियां दया धर्म पालने के लिए ही है। ज्ञान के माध्यम से हमें क्या करना चाहिये? तो संतों ने लिखा है कि ज्ञान का उपयोग उन स्थानों को जानने में करना चाहिये जिन स्थानों में सूक्ष्म जीव रह सकते हैं ताकि उनको बचाया जा सके। जीवों को जानने के उपरांत यदि दया नहीं आती तो उस ज्ञान का कोई उपयोग नहीं। वह ज्ञानी नहीं माना जा सकता जिसके हृदय में उदारता नहीं है, जिसके जीवन में अनुकम्पा नहीं है। जिसका अपना शरीर

तो सर्दी में कंप जाता है। किंतु प्राणियों की पीड़ा को देखकर नहीं कंपता, वह लौकिक दृष्टि से भले ही कितना भी ज्ञानी क्यों न हो, परमार्थ दृष्टि से सच्चा ज्ञानी वह नहीं है।

आज पंचेन्द्रिय जीव जिनमें तिर्यंच पशुपक्षियों की बात तो बहुत दूर रही, ऐसे मनुष्य भी हैं जिन्हें जीने योग्य आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध नहीं हो पाती। समय पर भोजन नहीं मिलता, रहने को मकान नहीं है, शिक्षा के समूचे साधन नहीं है। सारा जीवन अभाव में व्यतीत हो जाता है। कुछ मिलता भी है तो उस समय जब जीवन ढलता हुआ नजर आने लगता है। जैसे शाम तक यदि कुछ राशन मिल भी जाए तो सूरज डूबने को है और रात्रि भोजन का त्याग है। अब खाने की सामग्री होते हुए भी खाने का मन नहीं है। आप सोचिये, रात्रि भोजन का त्याग करने के उपरांत भी आप रात्रि में कितनी चीजें खाने योग्य जुटा लेते हैं। संसार में ऐसे भी लोग हैं जो दिन में भी एक बार भरपेट भोजन नहीं कमा पाते। थोड़ा उनके बारे में भी सोचिये। उनकी और भी तो थोड़ी दृष्टि कीजिये। कितने लोग यहाँ हैं जो इस प्रकार का कार्य करते हैं। दूसरे के दुख में कमी लाने का प्रयत्न करते हैं।

आज इस भारत में सैकड़ों बूचड़खानों का निर्माण हो रहा है। पशु-पक्षी मारे जा रहे हैं, आप सब सुन रहें हैं, देख रहे हैं फिर भी राम-रहीम और भगवान महावीर के समय में जिस भारत भूमि पर दया बरसती थी, सभी प्राणियों के लिए अभय था, उसी भारत भूमि पर आज अहिंसा खोजे-खोजे नहीं मिलती।

आज बड़ी-बड़ी मशीनों के सामने रखकर एक-एक दिन में दस-दस लाख निरपराध पशु काटे जा रहे हैं। सर्वत्र बड़े-बड़े नगरों में हिंसा का ताण्डव नृत्य दिखाई दे रहा है। आपको कुछ करने की, यहाँ तक कि यह सब देखने तक की फुरसत नहीं है। क्या आज इस दुनियां में ऐसा कोई दयालु वैज्ञानिक नहीं है जो जाकर के इन निरपराध पशुओं की करुण पुकार को सुन सकें, उनके पीड़ित जीवन को समझ कर उनकी आत्मा की आवाज पहचान कर हिंसा के बढ़ते हुए आधुनिक साधनों पर रोक लगा सकें।

आज पशुओं की हत्या करके, उनकी चमड़ी माँस आदि सब कुछ अलग करके डिब्बों में बंद करके निर्यात किया जाता है। सरकार सहयोग करती है और आप भी पैसों के लोभ में ऐसे अशोभनीय कार्यों में सहयोगी बनते हैं। आप केवल नोट ही देख रहे हैं-फोरन करेंसी। लेकिन आगे जाकर

जब इसका फल मिलेगा तब मालूम पड़ेगा। इस दुष्कार्य में जो भी व्यक्ति समर्थक हैं उनके लिए भी नियम से इन हिंसा जनित पाप के फल का यथायोग्य हिस्सा भोगना पड़ेगा। समय किसी को माफ नहीं करता।

छहढाला का पाठ आप रोज करते हैं। 'सुखी रहे सब जीव जगत के'- यह मेरी भावना भी रोज-रोज भायी जाती है लेकिन निरंतर होने वाली हिंसा को रोकने का उपाय कोई नहीं करता। चालीस-पचास साल भी नहीं हुए गांधी जी का अवसान हुए और यह स्थिति उन्हीं के देश में आ गयी। जिस भारत भूमि पर धर्मायतनों का निर्माण होता था। उसी भारत भूमि पर आज धड़ाधड़ सैकड़ों हिंसायतनों का निर्माण हो रहा है। इसमें राष्ट्र के साथ-साथ व्यक्ति का भी दोष है। क्योंकि देश में प्रजातंत्रात्मक शासन है। प्रजा ही राजा है। आपने ही चुनाव के माध्यम से वोट देकर शासक नियुक्त किया है। यदि आपके भीतर निरंतर होने वाली उस हिंसा को देखकर करुणा जागृत हो जाए तो शासक कुछ नहीं कर सकते। आपको जागृति लानी चाहिये।

सौदर्य प्रसाधन सामग्री भी आप मुंह मांगे दाम देकर खरीदते हैं। जीवन का आवश्यक कार्य समझकर उसका उपयोग करते हैं। क्या जानबूझकर आप उसमें होने वाली अंधाधुंध हिंसा का समर्थन नहीं कर रहे हैं। आप रात्रि-भोजन नहीं करते, अभक्ष्य पदार्थ नहीं खाते, पानी छानकर पीते हैं, नियमित स्वाध्याय करते हैं, पर हिंसा के साधनों का उपयोग करके हिंसा का समर्थन करते हैं। इस नश्वर शरीर की सुदंरता बढ़ाने के लिए आज कितने जीवों को मौत के घाट उतारा जा रहा है। दूध देने वाली भोली-भाली गायें, भैंसे दिन दहाड़े मारी जा रही है। खरगोश, चूहे, मेंढक और बेचारे बंदरों की हत्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और आप चुप हैं। सब वासना की पूर्ति के लिए हो रहा है। पशुओं को सहारा देना, उनका पालन पोषण करना तो दूर रहा, उनके जीवन को नष्ट होते देखकर भी आप चुप हैं। कहाँ गयी आपकी दया, कहाँ गया आपका लम्बा चौड़ा ज्ञान-विज्ञान, कहाँ गया आपका मानव धर्म?

आज मुर्गी पालन केंद्र के नाम पर मुर्गियों को जो यातना दी जा रही हैं? वह आपसे छिपी नहीं है। मछलियों का उत्पादन उनकी संख्या बढ़ाने के लिए नही, उन्हें मारने के लिए किया जा रहा है। उस सबकी शिक्षा दी जा रही है लेकिन दया की उत्पत्ति, अनुकम्पा की उत्पत्ति, और आत्म-शान्ति के लिए कोई ऐसी यूनिवर्सिटी, कोई कालेज या स्कूल कहीं देखने में नहीं आ

रहा। मुझे यह देखकर बड़ा दुख होता है कि जहाँ पर आप लोगों ने धर्म के संस्कारों के लिए विद्यालय और गुरुकुल खोले थे वहाँ भी धर्म का नामो-निशान नहीं है। सारे लौकिक विषय वहाँ पढ़ाये जाते हैं लेकिन जीव दया पालन जैसा सरल और हितकर विषय रंचमात्र भी नहीं है।

आज नागरिक-शास्त्र की आवश्यकता है। ऐसा नागरिक-शास्त्र जिसमें सिखाया जाए कि कैसे श्रेष्ठ नागारिक बनें। कैसे समाज का हित करें। कैसे दया का पालन करें। उस नागरिक-शास्त्र के माध्यम से हम सही जीवन जीना सीखें और दूसरे प्राणियों को अपना सहयोग दें। पशुओं की रक्षा करें। उनका सहयोग भी अपने जीवन में लें।

जहाँ पहले पशुओं की सहायता से खेतों में हल चलाया जाता था, चरस द्वारा सींचा जाता था। वहाँ अब ट्रेक्टर और पंप आ गया। जमीन का अनावश्यक दोहन होने लगा और कुंए खाली हो गये। चरस चलने से पानी धीरे-धीरे निकलता था, जमीनमें भीतर धीरे-धीरे घुसता चला जाता था जमीन की उपजाऊ शक्ति बनी रहती थी, पानी का अपव्यय नहीं होता था। इस सारे कार्य में पशुओं का सहयोग मिलता था। उनका पालन भी होता था, मशीनों के अत्यधिक प्रयोग से यह सब नष्ट हो गया। लाभ के स्थान पर हानि हुई और हिंसा भी बढ़ गयी। आप सही तरीके से सोचें तो ज्ञात होगा कि सभी क्षेत्रों में सामाजिक क्षेत्र में, आर्थिक क्षेत्र में, शैक्षणिक क्षेत्र में ऐसा कोई भी कार्य नहीं हुआ जिसकी तुलना हम पूर्व परम्परा से कर सकें और उसे अधिक लाभकारी कह सकें।

आप लोग चुपचाप सब बातें सुन रहे हैं। जीवन में परिवर्तन लाने का भी प्रयास करिये। अपनी संतान को इस प्रकार की शिक्षा देने में आप अपने आप को कृतकृत्य मानते हैं कि हमारा लड़का एम.बी.बी.एस. हो जाये, इंजीनियर या ऑफीसर हो जाये। ठीक है पर उसके भीतर धर्म के प्रति आस्था, संस्कृति के प्रति आदर और अच्छे संस्कार आयें, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये। जो कार्य आस्था के बिना और विवेक के बिना किया जाता है वह बहुत कम दिन चलता है। भीतर उस कार्य के प्रति कोई जगह न हो तो खोखलापन अल्प समय तक ही टिकता है। उच्च शिक्षा के साथ मानवीयता की शिक्षा भी होनी चाहिये।

नवनीत और छाँछ ये दो तत्व हैं। जिसमें सारभूत तत्व नवनीत है पर आज उसे छोड़कर हमारी दृष्टि मात्र छाँछ की ओर जा रही है। अपनी मूल

संस्कृति को छोड़कर भारत, पाश्चात्य संस्कृति की ओर जा रहा है यह नवनीत छोड़कर छॉछ की ओर जाना है। बंधुओं, ज्ञान धर्म के लिए है, मानवता के लिए है। मानव धर्म ही आत्मा को उन्नति की ओर ले जाने वाला है। यदि ज्ञान दयाधर्म से संबंधित होकर दयामय हो जाता है तो वह हमारे लिये हितकार सिद्ध होगा। वे आंखें भी हमारे लिए बहुत प्रिय मानी जायेंगी जिनमें करुणा, दया और अनुकम्पा के दर्शन होते हों अन्यथा इनके अभाव में मानव जीवन नीरस प्रतीत होता है।

आज सहनशीलता, त्याग, धर्म, वात्सल्य और सह-अस्तित्व की भावना दिनोंदिन कम होती जा रही है। प्रगति के नाम पर दिनोंदिन हिंसा बढ़ती जा रही है। भौतिकता से ऊब कर एक दिन बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को भी धर्म की ओर मुड़ने को मजबूर होना पड़ेगा, हो भी रहे हैं। कैसे जियें? कैसा व्यवहार करें? ताकि जीवन में सुख शन्ति आये। इन प्रश्नों का समाधान आज विज्ञान के पास नहीं है। अनावश्यक भौतिक सामग्री के उत्पादन से समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। धन का भी अपव्यय हो रहा है। शक्ति क्षीण हो रही है। हमें इस सबके प्रति सचेत होना चाहिये।

हम जब बहुत छोटे थे, उस समय की बात है। रसोई परोसने वाले को हम कहते थे कि रसोई दो बार परोसने की अपेक्षा एक बार ही सब परोस दो। तो वह कह देते थे कि हम तीन बार परोस देंगे लेकिन तुम ठीक से खाओ तो। एक बार में सब परोसेंगे तो तुम आधी खाओगे और आधी छोड़ दोगे। इसी प्रकार आज हर क्षेत्र में स्थिति हो गयी है। बहुत प्रकार का उत्पादन होने से अपव्यय हो रहा है, सभी उसका सदुपयोग नहीं कर पा रहे हैं।

एक समय वह भी था जब धन-संपत्ति का संग्रह होता भी था तो एक दूसरे के उपकार के लिए होता था। धर्म का उपयोग धार्मिक अनुष्ठानों में होता था। जो धन दूसरों का हित करने वाला था वहीं धन आज परस्पर द्वेष और कलह का कारण बना है 'मैं किसी को क्यों दूँ' इस प्रकार की स्वार्थ भावना मन में आ गयी है। इसी लिए धन का उपयोग कैसे करें। कहाँ करें, इस बात का विवेक नहीं रहा। अर्जन करने की बुद्धिमानी तो है लेकिन सही-सही उपयोग करने का विवेक नहीं है। जैनधर्म का कहना है कि उतना ही उत्पादन करो जितना आवश्यक है। अनावश्यक उत्पादन में समय और शक्ति मत गवांओ। धन का संग्रह करने की अपेक्षा जहाँ पर आवश्यक है वहाँ पर लगाओ। इसी में सभी का हित निहित है।

बहुत दिन पहले की बात है। राज्य व्यवस्था और राज्य शासन कैसा हो, इस बारे में एक पाठ पढ़ा था। उस राजा के राज्य में धीरे-धीरे प्रजा की स्थिति दयनीय हो गयी। राजा के पास बार-बार शिकायतें आने लगीं। राजा ने सारी बात मालूम करके कमियों को दूर करने के लिए सख्त आदेश दे दिया। कह दिया कि हमारे राज्य में कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं सो सकता। यदि भूखा सोयेगा तो दण्ड दिया जाएगा। कोई भूखा हो तो अपनी बात राजा तक पहुँचाने के लिए एक घंटा भी लगवा दिया।

एक दो दिन तक कुछ नहीं हुआ। तीसरे दिन घंटा बजने लगा। घंटा बजते ही जो सिपाही वहाँ तैनात था, उसने देखा कि बात क्या है? घंटा बजाने वाला वहाँ कोई व्यक्ति नहीं था, एक घोड़ा अवश्य था। किसी ने घंटे के ऊपर थोड़ा सा घास अटका दिया था, उसको खाने के लिए वह घोड़ा सिर उठाता था तो घंटा बजने लगता था। राजा तक खबर पहुँची राजा ने सोचा कि जरूर यह घोड़ा भूखा है उसके मालिक को बुलाया पूछा गया कि बोलो, यह कितने दिन से भूखा था। 'अन्नदाता, मैंने इसे जानबूझकर भूखा तो नहीं रखा'- उस घोड़े के मालिक ने डरते-डरते कह दिया। राजा ने पुनः प्रश्न किया कि फिर यह भूखा क्यों है? तब यह कहने लगा कि अन्नदाता! इस घोड़े के माध्यम से मैं जो कुछ भी कमाता हूँ उसमें कमी आ गयी है। पहले लोग जो किराया देते थे अब उसमें कमी करने लगे हैं। मेरा तो एक बार भोजन से काम चल जाता है पर इसके लिए कहाँ से पूरा पड़ेगा। मैंने सोचा कि अपनी बात यह स्वयं आपसे कहे इसलिए इनके माध्यम से घंटा बजवा दिया। अब आप ही न्याय करें।

राजा हंसने लगा, वह सारी बात समझ गया कि कमी कहाँ है? मनुष्य मनुष्य के बीच जो आदान-प्रदान का व्यवहार है उसमें कमी आ गयी है। उसी दिन राजा ने आज्ञा दी थी कि जो जितना काम करे, उसे उसके अनुरूप वेतन मिलना चाहिए, फिर चाहे वह मनुष्य हो या पशु भी क्यों न हो। सभी को समान अधिकार है जीने का। यह कहलाती है शासन व्यवस्था! यही राजा का धर्म है। आज इस धर्म के पालन में कमी आ जाने से सभी दुख का अनुभव कर रहे हैं। हमें अधर्म से बचकर मानव धर्म के लिए तत्पर रहना चाहिये।

गांधी जी के माध्यम से भारत को स्वतंत्रता मिली। उनका उद्देश्य मात्र भारत को स्वतंत्रता दिलाने का नहीं था। व्यक्ति-व्यक्ति स्वतंत्रता का अनुभव

'पूर्व : पूर्व भूमिका' शीर्षक अपने प्रथम प्रवचन में पूज्य आचार्य श्री ने यह स्पष्ट कर दिया है कि दशलक्षण धर्म के माध्यम से हमें पंचेन्द्रियों के विषय को छोड़ते जाना है। यदि धर्म का सेवन इन विषयों का विमोचन किये बिना करेंगे तो स्वाद नहीं आयेगा, शांति और तृप्ति नहीं मिलेगी। आत्मा का हित चाहने वालों को अहित के कारणों से बचाना ही प्रवचनकार को इष्ट है और पूरी कृति में यही लक्ष्य प्रमुखता से उनके सामने रहा है।

कहने के लिए भले ही धर्म के लक्षण दश हैं, किन्तु यथार्थ में यह सब दश धर्म एक में ही गर्भित हो जाते हैं। एक के आने से सभी आ जाते हैं।

उत्तम क्षमादि भाव वस्तुतः आत्मा के गुण हैं। वह गुण हर जीव में पाये जाते हैं। संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसके भीतर इन गुणों का खजाना न हो, किन्तु सदा बाहर की ओर देखते रहने की अपनी पुरानी आदत के कारण वह इन्हें देख या जान नहीं पाता है। यह प्रवचन व्यक्ति को अन्तर्यात्रा पर ले जाते हैं। अन्तर्यात्रा का अर्थ है स्वभाव में जीने की कोशिश। जिस प्रकार उत्ताल लहरों का कोलाहल समुद्र की सतह पर ही सुनाई पड़ता है किन्तु उसके भीतर कोई हलचल नहीं होती, उसी प्रकार हमारे जीवन में तनाव भी बाहर से आते हैं (सभी परनिमित्तक हैं) किन्तु यदि हम अपने भीतर झाँक कर देखें तो वहाँ शान्ति का अथाह साम्राज्य ही पायेंगे। इसी का नाम स्वभाव है। उत्तम क्षमादि धर्मों का पालन उसी स्वभावगत शान्त या निराकुलता में जीने या रहने की कला का ही दूसरा नाम है।

इस कृति के माध्यम से जीव मात्र तक को पूज्यश्री का करुणा का प्रसाद पहुँच रहा है। उनके हर प्रवचन में आत्मा का संगीत सुनाई पड़ता है तथा पग-पग पर आत्मजागरण की प्रेरणा मिलती है। उनका यह उपकार हमारे लिये किसी अयाचित वरदान से कम नहीं है।

इन प्रशस्त प्रवचनों का सम्पादन उनके प्रतिभा-सम्पन्न सुयोग्य शिष्य पूज्य मुनि क्षमासागर जी महाराज एवं ऐलक श्री अभयसागर जी महाराज ने लिखा है। कृति के अन्त में जैन धर्म का पारिभाषित शब्द-कोष देकर उन्होंने इसे और भी अधिक उपयोगी बना दिया है। वीतरागी एवं हितानुशास्ता गुरुओं के चरणों में हमारा शतशः नमन।

फिरोजाबाद (उत्तर प्रदेश)
दिनांक 29 जून 2013

नरेन्द्र प्रकाश जैन
(सम्पादक - जैन गजट)

पर्व : पूर्व भूमिका

□ **यदि धर्म का सेवन हम विषयों का विमोचन किये बिना करेंगे तो स्वाद नहीं आयेगा, शान्ति और तृप्ति नहीं मिलेगी। कम से कम धर्म को अंगीकार करने से पहले विषयों के प्रति रागभाव तो गौण होना ही चाहिये। उनके प्रति आसक्ति तो कम करनी ही चाहिए।**

कल पर्वराज आ रहा है और आत्मा के धर्म अर्थात् स्वभाव के बारे में वह हमसे कुछ कहेगा। दस दिनों में आप तरह-तरह से आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति के लिये प्रयास करेंगे। कोई बार-बार भोजन की आकांक्षा छोड़कर एक बार भोजन करेगा। कोई एकाशन करने वाला कभी-कभी उपवास करने का अभ्यास करेगा और किसी दिन जो जोड़ रखा है उसे छोड़ने का भाव लायेगा। कोई भी कार्य किया जाता है तो भूमिका बनाना आवश्यक होता है। नींव यदि कमजोर है तो उसके ऊपर महाप्रासाद निर्मित करना सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार आगामी दस दिनों में आप जो भी अपने आत्म-विकास के लिये करना चाहें, उसकी आज से ही भूमिका मजबूत कर लेनी चाहिये।

एक रोगी व्यक्ति वैद्य के पास गया कि कुछ इलाज बताइये ताकि कमजोरी दूर हो और शान्ति मिले। तब वैद्य जी ने रोग का निदान करके औषधियाँ बना दीं और कह दिया कि इन सभी का हलुवा बनाकर सेवन करना। कुछ दिनों के उपरान्त इसके सेवन से शक्ति और शान्ति मिल जायेगी। सभी चीजों का अनुपात और बनाने की विधि भी बता दी। उस व्यक्ति ने ठीक वैसा ही किया लेकिन उससे वह पौष्टिकता देने वाला हलुवा ठीक से खाया नहीं गया। दो-तीन दिन तक प्रयास करने के उपरान्त जब उससे वह हलुवा नहीं खाया गया तो वह वैद्य जी के पास पहुँचा और कहा कि रोग में कोई लाभ नहीं हुआ। वह हलुवा जैसे तैसे खाया तो, लेकिन ठीक-ठाक खाया नहीं गया। आपने जैसा बताया था, वैसा ही किया। उसमें किसी बात की कमी नहीं रखी लेकिन उसके सेवन के उपरान्त मुझे जरा भी सुख, शान्ति या तृप्ति नहीं मिली। जैसा आस्वादन मिलना चाहिये वह भी नहीं मिला। वैद्य जी ने कहा यह सम्भव ही नहीं है। बताओ क्या क्या मिलाया था? सभी चीजें मंगाई गयीं। कहीं कोई कमी नहीं थी। सभी चीजें

नपी-तुली थीं, अनुपात भी ठीक था, बनाने की विधि भी ठीक थी पर केशर की डिब्बी जब वैद्य जी ने उठाई तो समझ गये कि बात क्या है। पूछा कि यही केशर डाली थी। उस व्यक्ति ने कहा कि हाँ यही डाली थी। केशर तो असली है, उसमें गड़बड़ कैसे हो सकती है? वैद्य जी मुस्कराये कहा कि केशर तो असली है पर केशर रखने की डिबिया में पहले क्या था? तो मालूम पड़ा कि डिबिया में पहले हींग रखी थी। उस हींग के संस्कार के कारण पूरा का पूरा हलुवा बेस्वाद हो गया। यही गलती हो गयी। इसलिये शान्ति नहीं मिली और तृप्ति भी नहीं मिली।

बात आपके समझ में आ गई होगी। यदि धर्म का सेवन हम विषयों का विमोचन किये बिना करेंगे तो स्वाद नहीं आयेगा, शान्ति और तृप्ति नहीं मिलेगी। कम से कम धर्म को अंगीकार करने से पहले विषयों के प्रति रागभाव तो गौण होना ही चाहिये। हमारा धर्म महान् हैं जिसमें भगवान आदिनाथ से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीस तीर्थकर हुये। भरत जैसे चक्रवर्ती और बाहुबली जैसे कामदेव हुये। बाहुबली भगवान का कोई चिन्ह भले ही नहीं है, लेकिन उनकी तपस्या से हर कोई उन्हें पहचान लेता है।

वे तप की मूर्ति हैं। त्याग की मूर्ति हैं। वे संयम की मूर्ति हैं। विदेशी पर्यटक भी श्रवणबेलगोल (हासन-कर्नाटक) में जाकर गोम्मटेश बाहुबली स्वामी की मूर्ति देखकर ताज्जुब करते हैं कि यह कैसी विशाल, भव्य और मनोज्ञ प्रतिमा है, जो बिना बोले ही शान्ति का उपदेश दे रही है। हमें कहने की आवश्यकता न पड़े और हमारा जीवन स्वयं ही उपदेश देने लगे, यही हमारा धर्म है। यही धर्म का माहात्म्य भी है।

विषय भोगों में उलझते रहने की वजह से ही हमारे उपयोग की धारा आज तक भटकती आ रही है। बंटती चली आ रही है और सागर तक नहीं पहुँच पाती। मरुभूमि में ही विलीन हो रही है। पञ्चेन्द्रिय के विषयों के बीच आसक्त रहकर आज तक किसी को धर्मामृत की प्यास नहीं जगी। आज तक आत्मा का दर्शन नहीं हुआ। दशलक्षण धर्म के माध्यम से हमें दुनिया की और कोई वस्तु प्राप्त नहीं करना है किन्तु जो पञ्चेन्द्रिय के विषय हैं, उनको छोड़ते जाना है। जिस रुचि के साथ ग्रहण किया है उसी के अनुरूप उसका विमोचन करना भी आवश्यक हैं जिस प्रकार कचरे को व्यर्थ मानकर फेंक देते हैं उसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय के विषयों को व्यर्थ मानकर उनका त्याग करना होगा। उनके प्रति आसक्ति कम करनी होगी। धर्म की व्याख्या तो आप कल

से सुनेंगे, लेकिन आज कम से कम धर्म की केशर की सुगन्ध लेने से पहले अपनी डिब्बी का पुराना संस्कार अवश्य हटा दें।

तो बात यह है कि वीतराग-धर्म सुनने से पूर्व उसके योग्य पात्रता बनाना भी आवश्यक है। जैसे सिंहनी का दूध स्वर्ण पात्र में ही रुकता है उसी प्रकार वीतराग धर्म का श्रवण करके उसे धारण करने की क्षमता भी सभी में नहीं होती। उसके लिये भावों की भूमि में थोड़ा भीगापन होना चाहिये तथा आर्द्रता होनी चाहिये, जिससे वीतरागता के प्रति आस्था और उत्साह जागृत हो सकें। चारों ओर भोगोपभोग की सामग्री होते हुये भी इस काया के द्वारा उस माया को गौण करके भीतरी आत्मा को पहचानने और शरीर के पृथक् अवलोकन करने के लिये दश-लक्षण धर्म को सुनना मात्र ही पर्याप्त नहीं है, उसे प्राप्त करना भी अनिवार्य है।

जीवन का एक-एक क्षण उत्तम-क्षमा के साथ निकले। एक-एक क्षण मार्दव के साथ, विनय के साथ निकले। एक-एक श्वांस हमारी वक्रता के अभाव में चले। ऋजुता और शुचिता के साथ चले। पूरा जीवन ही दश-धर्म मय हो जाये। दश धर्म की व्याख्या तो कोई भी सुना सकता है लेकिन धर्म का वास्तविक दर्शन और अनुभव तो दिगम्बर वेश में ही सम्भव है। उसके प्रतिफल रूप मुक्ति भी इसी दिगम्बरत्व के साथ सम्भव है। जो व्यक्ति दश धर्म के श्रवण और दर्शन के माध्यम से एक समय के लिये भी जीवन में धर्म के प्रति संङ्कल्पित होता है, उत्तम क्षमा धारण करने का भाव जागृत करता है, मैं समझता हूँ कि उसका भाव ही उसके लिये भूमिका का काम करेगा।

एक बार गुरु और शिष्य यात्रा के लिये निकले। छोटी सी कथा पढ़ी थी। आप लोगों को याद हो तो ठीक है, अन्यथा पुनः याद ताजा कर लें। कैसा है सङ्गी साथी का प्रभाव? गुरु और शिष्य दोनों चले जा रहे थे। चलते-चलते शाम हो गई। सामायिक ध्यान का काल हो गया। एक पेड़ के नीचे बैठ गये। आगे भयानक जङ्गल था। वह ध्यान में बैठे ही थे कि शिष्य की दृष्टि जङ्गल की ओर से आते हुये सिंह पर पड़ी। शिष्य घबरा गया कि अब बचना सम्भव नहीं है। गुरु जी को पुकारा पर गुरु जी तो भगवान् के ध्यान में तल्लीन थे। शिष्य चुपचाप उठा और धीरे से पेड़ पर चढ़कर ऊँचाई पर बैठ गया। वहीं से बैठे-बैठे उसने देखा कि सिंह गुरु जी के पास आया और सूँघ कर परिक्रमा लगाकर सब ओर से देखकर लौट गया। शिष्य तो थर-थर

कांपने लगा कि पता नहीं क्या होने वाला है। जब सिंह चला गया तब दीर्घ श्वांस लेकर वह नीचे उतरा और गुरु जी के चरणों में प्रणाम करके बैठ गया।

थोड़ी देर बाद जब गुरु जी ध्यान से बाहर आये और कहा कि चलो। तब शिष्य को बड़ा आश्चर्य हुआ। शिष्य ने कहा कि गुरुजी आज तो बड़ा भाग्योदय था। बच गये। एक सिंह आया था और बिल्कुल आपके पास तक आया था। आपको सूंघा भी था। क्या आपको मालूम नहीं है? गुरुजी ने कहा कि नहीं मुझे नहीं मालूम। अब तो शिष्य और भी अचम्भे में पड़ा और श्रद्धा से पैरों पर गिर पड़ा कि अद्‌भुत है आपका धैर्य और आपकी दृढ़ता। गुरुजी ने अपनी प्रशंसा सुनकर अनसुनी कर दी और कहा कि चलो अभी और यात्रा करना है। दोनों फिर आगे यात्रा पर बढ़ गये। थोडी दूर चलने के उपरान्त एक घाटी में से गुजरते समय कुछ मधुमक्खियाँ आने लगीं और गुरुजी को एक-दो स्थान पर काट लिया। गुरुजी पीड़ा से कराहने लगे और वहीं बैठ गये। कहने लगे कि अब चलना सम्भव नहीं है।

शिष्य बड़ी दुविधा में पड़ गया कि आखिर बात क्या है? उसने पूछ ही लिया कि गुरुजी अभी अभी तो सिंह के आ जाने पर आप बिल्कुल विचलित नहीं हुये थे और अब इतनी छोटी सी मधुमक्खियों से विचलित हो गये। कुछ समझ में नहीं आया? गुरुजी मुस्कराये और बोले उस समय जब सिंह आया था तब मेरे साथ भगवान थे, मैं उन्हीं में लीन था। विचलित या भयभीत होने की बात ही नहीं थी लेकिन अब तो तू मेरे साथ है। भयभीत होना स्वाभाविक है। यह है संगति का असर।

आज चतुर्थ काल तो है नहीं। उत्तम संहनन का भी अभाव है। क्षायिक सम्यग्दर्शन भी होना सम्भव नहीं है। ऐसे विषम समय में विषयों की सङ्गति में पड़ कर अपने स्वभाव को भूल करके कर्त्तव्य से च्युत होने की सम्भावना अधिक है। इसलिये समय-समय पर वर्ष भर में बीच-बीच में ऐसे पर्व रखे गये हैं जिनसे श्रावकों के लिये तीन सौ पैंसठ दिन में कुछ दिन विषय-कषायों के सम्पर्क से बचने का और धर्म के निकट आने का अवसर मिलता है। दश-लक्षण पर्व इसीलिये महत्वपूर्ण पर्व हैं कि इनमें लगातार दस दिन तक विभिन्न प्रकार से धर्म का आचरण करके अपनी आत्मा के विकास का अवसर मिलता है, जो कि श्रावकों के लिये अनिवार्य है। मुनि महाराजों का तो जीवन ही दशलक्षण धर्ममय होता है।

रावण ने एक बार मुनि महाराज के मुख से धर्म श्रवण किया। उसके साथी भी साथ में थे। जब अंत में सभी ने एक-एक करके मुनि महाराज से कुछ न कुछ व्रत लिये तब चारण-ऋद्धिधारी उन मुनिराज ने रावण को कहा कि हे अर्द्धचक्री रावण! तुम तो बलशाली हो। कौन सा व्रत लेते हो? ले लो। तब रावण ने कहा कि महाराज आज मुझे अपने से बढ़कर कोई कमजोर नहीं लग रहा है। मैं आपसे अपनी कमजोरी कैसे कहूँ? एक छोटा सा व्रत भी मेरे लिये पालन करना कठिन लगता है। इतना ही कर सकता हूँ कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी उसके साथ सम्बन्ध के लिये मैं जबरदस्ती उसे बाध्य नहीं करूँगा, यही मेरा व्रत रहा।

रावण ने सोचा था कि ऐसी कोई स्त्री नहीं होगी जो उसे नहीं चाहेगी। पर आपको ज्ञात ही है कि इस एक व्रत ने भी उसे बहुत अच्छी शिक्षा दी। सीता का हरण तो कर किया लेकिन सीता को बाध्य नहीं कर सका। उसने जीवन को थोड़ा बहुत संस्कारित तो अवश्य किया। वैसे ही हमें भी व्रतों को अङ्गीकार करके स्वयं को संस्कारित करना चाहिये और व्रतियों को देखकर व्रतों के प्रति आकृष्ट होना चाहिये। सभी को व्रत, नियम, संयम के प्रति प्रोत्साहित भी करना चाहिये।

बन्धुओ! यदि एक बार शान्ति के साथ आप विषयों को गौण करके थोड़ा विचार करें, तो अपने आप ज्ञान होने लग जायेगा कि हमारा धर्म क्या है? हमारा स्वभाव क्या है? हमें विषय-कषायों की सङ्गति नहीं करनी चाहिये। वीतरागी की सङ्गति करनी चाहिये ताकि धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ में आ सकें। आज विलासिता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। आज तीर्थ-क्षेत्रों पर भी सुख-सुविधा के प्रबन्ध किये जा रहे हैं। पर ध्यान रखना-सुख-सुविधा से राग ही पुष्ट होता है, वीतरागता नहीं आती। वीतरागता प्राप्त करने के लिए, धर्म धारण करने के लिये थोड़ा कष्ट तो सहन करने की क्षमता लाना ही चाहिये। स्वयं को संयत बनाने का भाव तो आना ही चाहिये। हिंसा से दूर रहकर अहिंसा का पालन करते हुये जो व्यक्ति इन दश धर्मों का श्रवण-चिन्तन-मनन करता है, उन्हें प्राप्त करने का भाव रखता है; वह अवश्य ही अपने जीवन में आत्म-स्वभाव का अनुभव करने की योग्यता पा लेता है और जीवन को धर्ममय बना लेता है।

□□

उत्तम क्षमा

कोहुप्पत्तिस्स पुणो, बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं ण।
कुणदि किंचि विकोहं, तस्स खमा होदि धम्मोत्ति॥

□ **क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् बाहरी कारण मिलने पर भी थोड़ा भी क्रोध नहीं करता, उसे क्षमा धर्म होता है। (बारसाणुवेक्खा 71)**

अभी कार्तिकेयानुप्रेक्षा का स्वाध्याय चल रहा है, उसमें एक गाथा आती है-

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो[1] ॥

अर्थात् वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दस प्रकार के क्षमादिभावों को धर्म कहते हैं। रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं।

यहाँ आचार्य महाराज ने धर्म के विविध स्वरूपों को बताया है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है और यह भलीभाँति ज्ञात है कि वस्तु की अपेक्षा देखा जाए तो जीव भी वस्तु है। पुद्गल भी वस्तु है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी वस्तु है। सभी का अपना-अपना स्वभाव ही उनका धर्म है। अधर्म द्रव्य का भी कोई न कोई धर्म है। (हँसी) तो आज हम कौन से धर्म का पालन करें, कि जिसके द्वारा कम से कम दस दिन के लिए हमारा कल्याण हो। तब आचार्य कहते हैं कि स्वभाव तो हमेशा धर्म रहेगा ही लेकिन इस स्वभाव की प्राप्ति के लिए जो किया जाने वाला धर्म है वह है- 'खमादिभावो य दसविहो धम्मो'- क्षमादि भाव रूप दस प्रकार का धर्म वह आज से प्रारम्भ होने जा रहा है। ध्यान रखना आप लोगों की अपेक्षा, विशेष अनुष्ठान की दृष्टि से आज से प्रारम्भ हुआ माना जा रहा है, साधुओं के तो वह हमेशा ही है।

यह दस प्रकार का धर्म रत्नत्रय के धारी मुनिराज ही पालन करते हैं। इसलिए गाथा में आगे कहा गया कि 'रयणत्तयं च धम्मो'- रत्नत्रय भी धर्म है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप आत्मा की जो परिणति है उसका नाम भी धर्म है। लेकिन इतना कहकर ही बात पूरी नहीं की। इस रत्नत्रय की सुरक्षा किस तरह, किस माध्यम से होगी, यह भी बताना आवश्यक है। इसलिए कहा कि 'जीवाणं रक्खणं धम्मो'- जीवों की रक्षा करना धर्म है।

जीव का परम धर्म यही अहिंसा है। जो उसे अपने आत्मस्वभाव-रूप धर्म तक पहुँचायेगा। इस अहिंसा धर्म के बिना कोई भी जीवात्मा अपने आत्म-स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर सकता।

इस अहिंसा धर्म की व्याख्या आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से की है। जो अहिंसा से विमुख हो जाता है उसके भीतर क्षोभ उत्पन्न होता है। जैसे कोई सरोवर शान्त हो और उसमें एक छोटा सा भी कङ्कर फेंक दिया जाए, तो कंकर गिरते ही पानी में लहरें उत्पन्न होने लगती हैं। क्षोभ पैदा हो जाता है। सारा सरोवर क्षुब्ध हो जाता है और अगर कङ्कर फेंकने का सिलसिला अक्षुण्ण बना रहे तो एक बार भी वह सरोवर शान्त, स्वच्छ और उज्जवल रूप में देखने को नहीं मिल पाता। अनेक प्रकार की मलिनताओं में उसका शान्त स्वरूप खो जाता है। क्षोभ भी एक प्रकार की मलिनता ही है। मोह-राग-द्वेष रूप भाव भी एक मलिनता है। जैसे सरोवर का धर्म शान्त और निर्मल रहना है, लहरदार होना नहीं है, ऐसा ही आत्मा का स्वभाव समता परिणाम है जो लहर रूपी क्षोभ और मोह रूपी मलिनता से रहित है, जो निष्कम्प और निर्मल है।

सरोवर में कङ्कर फेंकने के उपरान्त उसमें हम जब जाकर देखेंगे तो अपना मुख देखने में नहीं आयेगा और न ही सरोवर के भीतर पड़ी निधि/वस्तु का अवलोकन कर सकेंगे। मान लीजिये सरोवर शान्त है तथा कङ्कर भी नहीं फेंका गया किन्तु कीचड़ उसमें बहुत है तो भी उस सरोवर के जल में मुख दिखने में नहीं आयेगा। आज मुझे यही कहना है आप लोगों से कि ऐसे ही हमारी आत्मा का सरोवर जब तक शान्त और मलिनता से रहित नहीं होगा तब तक हमें अपना उज्जवल स्वरूप दिखाई नहीं देगा। क्रोध के अभाव में ही क्षमा धर्म जीवन में प्रकट होगा। एक बार यदि यह क्षमा धर्म अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाये और आत्मा से क्रोधादि कषायों का सर्वथा अभाव हो जाए तो लोक में होने वाला कोई भी विप्लव उसे प्रभावित नहीं कर सकता, उसे स्वभाव से च्युत नहीं कर सकता, नीचे नहीं गिरा सकता।

'काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या'[2]- अर्थात् सैकड़ों कल्पकाल भी बीत जायें तो भी सिद्धत्व की प्राप्ति के उपरान्त किसी भी तरह की विकृति आना सम्भव नहीं है। सरोवर का जल स्वच्छ होकर बर्फ बनकर जम जाये, उसमें सघनता आ जाये तो कंकर के फेंकने से कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता; ऐसा ही आत्मा के स्वभाव के बारे में समझना चाहिये। हमें आत्मा की शक्ति को पहचानकर उसे ऐसा ही सघन बनाना चाहिए

कि क्षोभ उत्पन्न न हो सकें। आत्मा को ज्ञान-धन रूप कहा गया है। हमारा ज्ञान, धन-रूप हो जाना चाहिये। अभी वह पिघला हुआ होने से छोटी-छोटी सी बातों को लेकर भी क्षुब्ध हो जाता है। हमारे अंदर छोटी सी बात भी क्रोध-कषाय उत्पन्न कर देती है और हम क्षमा धर्म से विमुख हो जाते हैं।

अनन्त काल हो गया तबसे हम इस क्रोध का साथ देते जा रहे हैं। क्षमा धर्म का साथ हमने कभी ग्रहण नहीं किया। एक बार ऐसा करो जैसा कि पाण्डवों ने किया था। पाण्डव जब तक महलों में पाण्डव के रूप में रहे तब तक कौरवों को देखकर मन में विचार आ जाता था कि ये भाई होकर भी हमारे साथ बैरी जैसा व्यवहार करते हैं। अत: इनसे हमें युद्ध करना ही होगा। इन्हें धर्म-युद्ध के माध्यम से मार्ग पर लाना होगा। इस तरह कई प्रकार की बातें चलती थीं, संघर्ष चलता था। किन्तु जब वे ही पाण्डव गृहत्याग का निरीह होकर ध्यान में बैठ गये तो यह विचार आया कि 'जीवाणं रक्खणं धम्मो'- जीवों की रक्षा करना, उनके प्रति क्षमा भाव धारण करना ही हमारा धर्म है। कौरव भी जीव हैं अब उनके प्रति क्षमा भाव धारण करना ही हमारा कर्त्तव्य है। इसी क्षमा धर्म का पालन करते हुए जब उन पर उपसर्ग आया तो लोहे के गरम-गरम आभूषण पहनाने पर भी वे शान्त रहे। क्षुब्ध नहीं हुए, न ही मन में शरीर के प्रति राग-भाव आने दिया और न ही उपसर्ग करने वालों के प्रति द्वेष भाव को आने दिया।

तप से तो तप ही रहे थे, ऊपर से तपे हुए आभूषण पहनाये जाने पर और अधिक तपने लगे। क्षमा-धर्म के साथ किये गये इस तप के द्वारा कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होने लगी। जैसे प्रोषधोपवास या पर्व के दिनों में आप लोग उपवास करते हैं या एकाशन करते हैं और भीषण गर्मी ज्येष्ठ मास की कड़ी धूप पड़ जाये तो कैसा लगता है? दोहरी तपन हो गयी। पर व्रत का संकल्प पहिले से होने के कारण परीषह सहते हैं। ऐसे ही पाण्डव भी लोहे के आभूषण पहनाये जाने पर भी शान्त भाव से परीषह-जय में लगे रहे। कौरवों पर क्रोध नहीं आया, क्योंकि जीवन में क्षमा-धर्म आ गया था। 'जीवाणं रक्खणं धम्मो' यह मन्त्र भीतर ही भीतर चल रहा था।

वे सोच रहे थे कि अब तो कोई भी जीव आकर हमारे लिए कुछ भी करे- उपसर्ग करे, शरीर को जला भी दे तो भी हम अपने मन में उसके प्रति हिंसा का भाव नहीं लायेंगे क्रोध नहीं करेंगे और विरोध भी नहीं करेंगे। अब चाहे कोई प्रशंसा करने आये तो उसमें राजी भी नहीं होंगे और न ही किसी से नाराज होंगे। क्योंकि अब हम महाराज हो गये हैं। महाराज हैं तो

नाराज नहीं और नाराज हैं तो महाराज नहीं। लेकिन बात ऐसी है ध्यान रखना कि कभी-कभी लोगों के मन में बात आ जाती है कि महाराज जी तो नाराज हैं और आहार देते समय कह भी देते हैं कि महाराज तो हमसे आहार ही नहीं लेते, नाराज हैं। हमारी तरफ देखते तक नहीं हैं। अब उस समय हम कुछ जवाब तो दे नहीं सकते और ऐसा कहने वाले बाद में सामने आते भी नहीं हैं। कभी आ जायें तो हम फौरन कह देते हैं कि भइया, हम नाराज नहीं हुए और अगर आपकी दृष्टि में राजी नहीं होने का नाम ही नाराज होना कहलाता है तो आप अपनी जानो। आप तो इसी में राजी होंगे कि महाराज आप हमारे यहाँ रोज आओ।

संसारी प्राणी राग को बहुत अच्छा मानता है और द्वेष को अच्छा नहीं मानता। लेकिन देखा जाये तो द्वेष पहले छूट जाता है फिर बाद में राग का अभाव होता है। दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्म लोभ चलता है। मुनि महाराज तो प्रशंसा में राजी नहीं होते और न ही निंदा से नाराज होते हैं; अपितु वे तो दोनों दशा में साम्य रखते हैं। राग और द्वेष दोनों में साम्य भाव रखना ही अहिंसा धर्म हैं, क्षमा धर्म है।

'रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं ति देसिदं समये ।
तेसिं चे उप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥[3]

यह आचार्यों की वाणी है। रागद्वेष की उत्पत्ति होना हिंसा है और रागद्वेष का अभाव ही अहिंसा है। जीवत्व के ऊपर सच्चा श्रद्धान तो तभी कहलायेगा जब अपने स्वभाव के विपरीत हम परिणमन न करें अर्थात् रागद्वेष से मुक्त हों। क्रोधादि कषायों के आ जाने पर जीव का शुद्ध स्वभाव अनुभव में नहीं आता। संसारी दशा में स्वभाव का विलोम परिणमन हो जाता है। यही तो वैभाविक परिणति है, जो संसार में भटकाती है।

पाँचों पाण्डव ध्यान में लीन थे। सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान में लीन थे। शरीर मे रहकर शरीरातीत आत्मा का अनुभव कर रहे थे। वास्तव में यही तो उनकी अग्नि परीक्षा की घड़ी थी।

'जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णणी दु णाणित्तं ॥[4]

जिस प्रकार स्वर्ण को तपा दिये जाने पर भी स्वर्ण अपनी स्वर्णता को नहीं छोड़ता बल्कि जितना आप तपाओगे उतनी ही कीमत बढ़ती जायेगी, उतने ही उसके गुणधर्म उभरकर सामने आयेंगे। स्वर्ण को जितना आप कसौटी पर कसोगे उतना ही उसमें निखार आयेगा, उसकी सही परख होगी।

आचार्यों ने उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार अग्नि में तपाये जाने पर स्वर्ण, स्वर्णपने को नहीं छोड़ता उसी प्रकार ज्ञानी भी उपसर्ग और परीषह के द्वारा खूब तपा दिये जाने पर भी अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता, 'पाण्डवादिवत्' यानी पाण्डवों के समान।

पाण्डवों का उदाहरण दिया, सौ कौरवों के साथ युद्ध करते समय के पाण्डवों का या राज्य सुख भोगते हुए पाण्डवों का उदाहरण नहीं दिया। बल्कि उन पाण्डवों का उदाहरण दिया जो राजपाट छोड़कर वीतरागी होकर ध्यान में लीन हैं और उपसर्ग आने पर भी 'जीवाणं रक्खणं धम्मो, रयणत्तयं च धम्मो'- जीवों की रक्षा को धर्म मानकर, रत्नत्रय को धर्म मानकर उसी की सुरक्षा में लगे हुए हैं। वे क्षमाभाव धारण करते हुए विचार कर रहे हैं कि जानना-देखना ही हमारा स्वभाव है। जो कोई इस आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता और अज्ञानी होता हुआ यदि बाधा उत्पन्न करता है, तो वह भी दया और क्षमा का पात्र है।

कोई यदि स्वर्ण की वास्तविकता के बारे में संदेह कर रहा हो तो यही उपाय है कि उसको तपाकर दिखा दिया जाए या कसौटी के पाषाण पर कस दिया जाए ताकि विश्वास प्रादुर्भूत हो जाए। पाँडव ऐसी ही अग्नि परीक्षा दे रहे थे। आप भी यदि दूसरे के अंदर स्वभाव के प्रति श्रद्धान पैदा कराना चाहते हैं या स्वयं के ज्ञानीपने की परीक्षा करना चाहते हैं तो आपको भी ऐसी अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ेगा। अपने जीवत्व की रक्षा के लिए सभी जीवों की रक्षा का संङ्कल्प पहले करना होगा। तुलसी दया न छोड़िये, जबलों घट में प्राण-जब तक घट में अर्थात् शरीर में प्राण हैं तब तक हम जीव दया अर्थात् जीवों की रक्षा करने रूप धर्म को नहीं छोड़ेंगे, ऐसा संङ्कल्प होना चाहिये। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने बोधपाहुड में कहा है कि 'धम्मो दया विसुद्धो।'- धर्म, दया करके विशुद्ध होता है। इस दया-धर्म के अभाव में मात्र धर्म की चर्चा करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

आत्मा के स्वभाव की उपलब्धि रत्नत्रय में निष्ठा के बिना नहीं होती और रत्नत्रय में निष्ठा दया धर्म के माध्यम में, क्षमादि धर्मों के माध्यम से ही जानी जाती है। जहाँ रत्नत्रय के प्रति निष्ठा होगी वहाँ नियम से क्षमादि धर्म उत्पन्न होंगे। तभी आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होगी। दस प्राणों से अतीत(मुक्त) आत्मा ही अपनी वास्तविक ज्ञान-चेतना का अनुभव करती है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि-

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं ।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा ।।[5]

सभी स्थावर जीव शुभाशुभ कर्मफल के अनुभवन रूप कर्मफल चेतना का अनुभव करते हैं किन्तु त्रस-जीव उसी कर्मफल के अनुभव में विशेष रागद्वेष रूप कर्मचेतना का भी अनुभव करते हैं। यह कर्मचेतना तेरहवें गुणस्थान तक चलती हैं। क्योंकि रागद्वेष का अभाव होने के बावजूद भी वहाँ अभी योग की प्रणाली चल रही है। कर्मों का सम्पादन हो रहा है। भले ही एक समय के लिए हो, लेकिन कर्मबन्ध चल ही रहा है। चौदहवें गुणस्थान में यद्यपि अभी स्वभाव की पूर्णतः अभिव्यक्ति अर्थात् गुणस्थानातीत दशा की प्राप्ति नहीं हुई है, तथापि तेरहवें गुणस्थान की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। वहाँ योग के अभाव में कर्म का सम्पादन नहीं हो रहा अपितु मात्र कर्मफल की अनुभूति अभी शेष है। इसके उपरान्त दस प्रकार के द्रव्य प्राणों से रहित सिद्ध भगवान ही शुद्ध ज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं।

ऐसे सिद्ध भगवान के स्वरूप के समान हमारा भी स्वरूप है। 'शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं, निरञ्जनोऽहं, निर्विकार स्वरूपोऽहं' आदि-आदि भावों के साथ पर्यायबुद्धि को छोड़कर पाण्डव ध्यान में लीन हैं। लेकिन प्रत्येक की क्षमता एक सी नहीं होती। क्षमा-भाव सभी धारण किये हैं, पर देखो कैसा सूक्ष्म धर्म है कि अपने बारे में नहीं, अपने से बड़े भाईयों के बारे में जरा सा विचार आया कि मुक्ति में बाधा आ गयीं। वे नकुल और सहदेव सोचने लगे कि 'हम तो अभी युवा हैं, यह परीषह सह लेंगे। लेकिन बड़े भाई तो वृद्ध होने को हैं, वे कैसे सहन कर पायेंगे। अरे! कौरवों ने अभी भी वैर नहीं छोड़ा' -ऐसा मन में विकल्प आ गया। कोई विरोध नहीं किया, मात्र विचार आया। क्षमा धर्म में थोड़ी कमी आ गयी और उस विकल्प का परिणाम ये हुआ कि उन्हें सर्वार्थसिद्धि की आयु बन्ध गयी, मुक्तिपद नहीं मिल पाया।

मान लीजिये, कोई अरबपति बनना चाहता है तो कब कहलायेगा वह अरबपति? तभी कहलायेगा जब उसके पास पूरे अरब रुपये हों। लेकिन ध्यान रखना यदि एक रुपया भी कम है तो भी अरबपति होने में कमी मानी जायेगी। एक पैसे की कमी भी कमी ही कहलायेगी। यही स्थिति उन अंतिम पाण्डवों की हुई। 'जीवाणं रक्खणं धम्मो' जीवों की रक्षा तो की, लेकिन अपने आत्म परिणामों की संभाल पूरी तरह नहीं कर पाये। शेष तीन पाण्डव निर्विकल्प समाधि में लीन होकर अभेद रत्नत्रय को प्राप्त करके साक्षात् मुक्ति को प्राप्त करने में सफल हुए।

भइया! क्रोध पर विजय पाने के लिए ऐसा ही प्रयास हमें भी करना चाहिये। आज तो सर्वार्थसिद्धि भी नहीं जा सकते, तो कम से कम सोलह स्वर्ग तक तो जा ही सकते हैं। सोलहवें स्वर्ग तक जाने के लिए सम्यग्दर्शन सहित श्रावक के योग्य अणुव्रत तो धारण करना ही चाहिये। आप श्रावक हैं तो इतनी क्षमा का अनुपालन तो कर ही सकते हैं कि कोई भी प्रतिकूल प्रसंग आ जाये तो भी हम क्रोधित नहीं होंगे। क्षमाभाव धारण करेंगे। रत्नत्रय हमारी सहज शोभा है और क्षमादि धर्म हमारे अलङ्कार हैं, इसी के माध्यम से हमारा जीवत्व निखरेगा। अनन्तकाल से जो जीवन संसार में बिखरा पड़ा है, उस बिखराव के साथ जीना, वास्तविक जीना नहीं है। अपने भावों की सम्भाल करते हुए जीना ही जीवन की सार्थकता है।

किसी कवि ने लिखा है कि 'असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। और मृत्यो मा अमृतोगमय।' जो असत् है या जो सत्य नहीं है, जो झूठ है, जो अपना नहीं है, जो सपना है; उससे मेरी बुद्धि हट जाये। मैं मोह की वजह से उस असत् को सत् मान रहा हूँ और अपने वास्तविक सत् स्वरूप को विस्मृत कर रहा हूँ। हे भगवन्! मुझे अज्ञान के अन्धकार से बचा लें और जल्दी-जल्दी केवल ज्ञान रूप ज्योतिपुञ्ज तक पहुँचा दें। मेरा अज्ञान रूपी अन्धकार मिट जाये और मैं केवलज्ञान में लीन हो जाऊँ।

हे भगवन्! यह जन्म, यह जरा, यह मृत्यु और मेरे कषाय भाव- यही हमारे वास्तविक जीवन की मृत्यु के कारण हैं। अमृत वहीं है जहाँ मृत्यु नहीं है। अमृत वहीं है जहाँ सुधा-तृषा की वेदना नहीं है। अमृत वही है जहाँ क्रोध रूपी विष नहीं है।

इस तरह हम निरन्तर अपने भावों की सम्भाल करें। रत्नत्रय धर्म, क्षमा धर्म या कहो अहिंसा धर्म यही हमें अमृतमय हैं। क्षमा हमारा स्वाभाविक धर्म है। क्रोध तो विभाव है। उस विभाव-भाव से बचने के लिए स्वभाव भाव की ओर रुचि जागृत करें। जो व्यक्ति प्रतिदिन धीरे-धीरे अपने भीतर क्षमा-भाव धारण करने का प्रयास करता है उसी का जीवन अमृतमय है। हम भगवान से यही प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन्! क्षमा धर्म के माध्यम से हम सभी का पूरा का पूरा कल्याण हो। जीवन की सार्थकता इसी में है।

क्षमा धर्म -

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा - गाथा क्रमांक-४७८
२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार-१३३
३. सर्वार्थसिद्धि-७/२२/७०४/२८१/७
४. समयसार-१९१
५. पञ्चास्तिकाय-३९

□□

उत्तम मार्दव

कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥

□ **जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय में थोड़ा सा भी घमण्ड नहीं करता, उसके मार्दव धर्म होता है। (७२)**

आज पर्व का दूसरा दिन है। कल उत्तम क्षमा के बारे में आपने सुना, सोचा, समझा और क्षमा भाव धारण भी किया है। वैसे देखा जाए तो ये सब दस धर्म एक में ही गर्भित हो जाते हैं। एक के आने से सभी आ जाते हैं। आचार्यों ने सभी को अलग-अलग व्याख्यायित करके हमें किसी न किसी रूप में धर्म धारण करने की प्रेरणा दी है। जैसे-रोगी के रोग को दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार से चिकित्सा की जाती है। दवा अलग-अलग अनुपात के साथ सेवन करायी जाती है। कभी दवा पिलाते हैं, कभी खिलाते हैं और कभी इंजेक्शन के माध्यम से देते हैं। बाह्य उपचार भी करते हैं। वर्तमान में तो सुना है कि रंगों के माध्यम से भी चिकित्सा पद्धति का विकास किया जा रहा है। कुछ दवाएं सुंघाकर भी इलाज करते हैं। इतना ही नहीं, जब लाभ होता नहीं दिखता तो रोगी के मन को सान्त्वना देने के लिए समझाते हैं कि तुम जल्दी ठीक हो जाओगे। तुम रोगी नहीं हो। तुम तो हमेशा से स्वस्थ हो अजर-अमर हो। रोग आ ही गया है तो चला जायेगा, घबराने की कोई बात नहीं है। ऐसे ही आचार्यों ने अनुग्रह करके विभिन्न धर्मों के माध्यम से आत्म-कल्याण की बात समझायी है।

प्रत्येक धर्म के साथ उत्तम विशेषण भी लगाया है। सामान्य क्षमा या मार्दव धर्म को बात नहीं है, जो लौकिक रूप से सभी धारण कर सकते हैं। बल्कि विशिष्ट क्षमा भाव जो संवर और निर्जरा के लिए कारण है, उसकी बात कही गयी है। जिसमें दिखावा नहीं है, जिसमें किसी सांसारिक ख्याति, पूजा, लाभ की आकांक्षा नहीं है। यही उत्तम विशेषण का महत्व है।

दूसरी बात यह है कि क्षमा, मार्दव आदि तो हमारा निजी स्वभाव है, इसलिए भी उत्तम धर्म है। इनके प्रकट हुए बिना हमें मुक्ति नहीं मिल

सकती। आज विचार इस बात पर भी करना है कि जब मार्दव हमारा स्वभाव है तो वह हमारे जीवन में प्रकट क्यों नहीं है? तो विचार करने पर ज्ञात होगा कि जब तक मार्दव धर्म के विपरीत मान विद्यमान है तब तक वह मार्दव धर्म को प्रकट नहीं होने देगा। केवल मृदुता लाओ, ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा किन्तु इसके विपरीत जो मान कषाय है उसे भी हटाना पड़ेगा। जैसे हाथी के ऊपर बन्दर का बैठना शोभा नहीं देता, ऐसे ही हमारी आत्मा पर मान का होना शोभा नहीं देता। यह मान कहाँ से आया? यह भी जानना आवश्यक है। जब ऐसा विचार करेंगे तो मालूम पड़ेगा कि अनन्त काल से यह जीवन के साथ है और एक तरह से जीव का धर्म जैसा बन बैठा है। इससे छुटकारा पाने के दो ही उपाय है या कहो अपने वास्तविक स्वरूप को पाने के दो ही उपाय हैं। एक विधि रूप है तो दूसरा निषेध रूप है। जैसे रोग होने पर कहा जाए कि आरोग्य लाओ, तो आरोग्य तो रोग के अभाव में ही आयेगा। रोग के अभाव का नाम ही आरोग्य है। इसी प्रकार मृदुता को पाना हो तो यह जो कठोरता आकर छिपकर बैठी है उसे हटाना होगा। जानना होगा कि इसके आने का मार्ग कौन सा है, उसे बुलाने वाला और इसकी व्यवस्था करने वाला कौन है? तो आचार्य कहते हैं कि हम ही सब कुछ कर रहे हैं। जैसे अग्नि राख से दबी हो तो अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती, ऐसे ही मार्दव धर्म का मालिक यह आत्मा कर्मों से दबी हुई है और अपने स्वभाव को भूलकर कठोरता को अपनाती जा रही है।

विचार करें, कि कठोरता को लाने वाला प्रमुख कौन है? अभी आप सबकी अपेक्षा ले लें। तो संज्ञी पंचेन्द्रिय के पाँचों इन्द्रियों में से कौन सी इन्द्रिय कठोरता लाने का काम करती है? क्या स्पर्शन इन्द्रिय से कठोरता जाती है, या रसना इन्द्रिय से आती है, या घ्राण या चक्षु या श्रोत्र, किस इन्द्रिय से कठोरता आती है? तो कोई भी कह देगा कि इन्द्रियों से कठोरता नहीं आती। यह कठोरता मन की उपज है। एक इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक कोई भी जीव ऐसे अभिमानी नहीं मिलेंगे जैसे कि मन वाले और विशेषकर मनुष्य होते हैं। थोड़ा सा भी वित्त-वैभव बढ़ जाए तो चाल में अन्तर आने लगती है। मनमाना तो यह मन ही है। मन के भीतर से ही माँग पैदा होती है। वैसे मन बहुत कमजोर है, वह इस अपेक्षा से कि उसका कोई अङ्ग नहीं है लेकिन यह अङ्ग-अङ्ग को हिला देता है। विचलित कर देता है। जीवन का ढाँचा परिवर्तित कर देता है और सभी पांचों इन्द्रियाँ भी मन की पूर्ति में लगी रहती है।

मन सबका नियन्ता बनकर बैठ जाता है। आत्मा भी इसकी चपेट में आ जाती है और अपने स्वभाव को भूल जाती है। तब मृदुता के स्थान पर मान और मद आ जाता है। इन्द्रियों को खुराक मिले या न मिले चल जाता है लेकिन मन को खुराक मिलनी चाहिये। ऐसा यह मन है। और इसे खुराक मिल जाये, इसके अनुकूल काम हो जाए तो यह फूला नहीं समाता और नित नयी माँगें पूरी करवाने में चेतना को लगाये रखता है। जैसे आज कल कोई विद्यार्थी कालेज जाता है। प्रथम वर्ष का ही अभी विद्यार्थी है अभी अभी कालेज का मुख देखा है। वह कहता है-पिताजी! हम कल से कॉलेज नहीं जायेंगे। तो पिताजी क्या कहें? सोचने लगते हैं कि अभी एक दिन तो हुआ है और नहीं जाने की बात कहाँ से आ गयी? क्या हो गया? तो विद्यार्थी कहता है कि पिताजी आप नहीं समझेंगे नयी पढ़ाई है। कॉलेज जाने के योग्य सब सामग्री चाहिए। कपड़े अच्छे चाहिए। पॉकेट में पैसे भी चाहिए और यूनिवर्सिटी बहुत दूर है, रास्ता बड़ा चढ़ाव वाला है इसलिए स्कूटर भी चाहिए। उस पर बैठकर जायेंगे इसके बिना पढ़ाई सम्भव नहीं है।

यह कौन करवा रहा है? यह सब मन की ही करामात है। यदि इसके अनुरूप मिल जाए तो ठीक अन्यथा गड़बड़ हो जायेगी। जैसे सारा जीवन ही व्यर्थ हो गया, ऐसा लगने लगता है। कपड़े चाहिए ऐसे कि बिल्कुल टिनोपाल में तले हुए हों हाँ जैसे पूरियाँ तलती है। यह सब मन के भीतर से आया हुआ मान-कषाय का भाव है। सब लोग क्या कहेंगे कि कॉलेज का छात्र होकर ठीक कपड़े पहनकर नहीं आता। एक छात्र ने हमसे पूछा था कि सचमुच ऐसी स्थिति आ जाती है तब हमें क्या करना चाहिए? तो हमने कहा कि ऐसा करो टोपी पहन लेना और धोती कुरता पहनाकर जाना, वह हँसने लगा। बोला यह तो बड़ा कठिन है। टोपी पहनना तो फिर भी सम्भव है लेकिन धोती वगैरह पहनूँगा तो सब गड़बड़ हो जायेगी। सब से अलग हो जाऊँगा। लोग क्या कहेंगे? हमने कहा कि ऐसा मन में विचार ही क्यों लाते हो कि लोग क्या कहेंगे? अपने को प्रतिभा सम्पन्न होकर पढ़ना है। विद्यार्थी को तो विद्या से ही प्रयोजन होना चाहिये।

आज यही हो रहा है कि व्यक्ति बाहरी चमक-दमक में ऐसा झूम जाता है कि सारी की सारी शक्ति उसी में व्यर्थ ही व्यय होती चली जाती है और वह लक्ष्य से चूक जाता है। यह सब मन का खेल है। मान कषाय है।

मान-सम्मान की आकांक्षा काठिन्य लाती है और सबसे पहले मन में कठोरता आती है, फिर बाद में वचनों में और तदुपरान्त शरीर में भी कठोरता आने लगती है। इस कठोरता का विस्तार अनादिकाल से इसी तरह हो रहा है और आत्मा अपने मार्दव-धर्म को खोता जा रहा है। इस कठोरता का, मान कषाय का परित्याग करना ही मार्दव धर्म के लिए अनिवार्य है।

आठ मदों में एक मद ज्ञान का भी है। आचार्यों ने इसी कारण लिख दिया है कि -ज्ञानस्य फलं किं? उपेक्षा, अज्ञाननाशो वा' उपेक्षा भाव आना और अज्ञान का नाश होना ही ज्ञान का फल है। उपेक्षा का अर्थ है रागद्वेष की हानि होना और गुणों का आदान (ग्रहण) होना। यदि ऐसा नहीं होता तो वह ज्ञान कार्यकारी नहीं है। 'ले दीपक कुएँ पड़े' वाली कहावत आती है कि उस दीपक के प्रकाश की क्या उपयोगिता जिसे हाथ में लेकर भी यदि कोई कूप में गिर जाता है। स्व-पर का विवेक होना ही ज्ञान का सार्थकता है। पर को हेय जानकर भी यदि पर के विमोचन का भाव जागृत नहीं होता और ज्ञान का मद आ जाता है कि मैं तो ज्ञानी हूँ, तो हमारा यह ज्ञान एकमात्र बौद्धिक व्यायाम ही कहलायेगा।

ज्ञान का अभिमान व्यर्थ है। ज्ञान का प्रयोजन तो मान की हानि करना है, पर अब तो मान की हानि होने पर मानहानि का कोर्ट में दावा होता है। मार्दव धर्म तो ऐसा है कि जिसमें मान की हानि होना आवश्यक है। यदि मान की हानि हो जाती है तो मार्दव धर्म प्रकट होने में देर नहीं लगती।

आप शान्तिनाथ भगवान के चरणों में श्रीफल चढ़ाते हैं तो भगवान श्रीफल के रूप में आपसे कोई सम्मान नहीं चाहते न ही हर्षित होते हैं, बल्कि वे तो अपनी वीतराग मुद्रा से उपदेश देते हैं कि जो भी मान कषाय है वह सब यहाँ लाकर विसर्जित कर दो। यह जो मन, मान कषाय का स्टोर बना हुआ है, उसे खाली कर दो। जिसका मन, मान कषाय से खाली है वही वास्तविक ज्ञानी है। उसी के लिए केवलज्ञान रूप प्रमाण-ज्ञान की प्राप्ति हुआ करती है। वही तीनों लोकों में सम्मान पाता है।

हम पूछते हैं कि आपको केवलज्ञान चाहिये या मात्र मान-कषाय चाहिये? तो कोई भी कह देगा कि हमें केवलज्ञान चाहिये। लेकिन केवलज्ञान की प्राप्ति तो अपने स्वरूप की ओर, अपने मार्दव धर्म की ओर प्रयाण करने से होगी। अभी तो हम स्वरूप से विपरीत की प्राप्ति होने में ही अभिमान कर रहे हैं। वास्तव में देखा जाए तो इन्द्रिय ज्ञान, ज्ञान नहीं है। इन्द्रिय-ज्ञान तो

पराश्रित ज्ञान है। स्वाश्रित ज्ञान तो आत्म-ज्ञान या केवलज्ञान है। जो इन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रिय के विषयों में आसक्त नहीं होता, वह नियम से अतीन्द्रिय ज्ञान को प्राप्त कर लेता है; सर्वज्ञ दशा को प्राप्त कर लेता है।

'मनोरपत्यं पुमान्निति मानवः' कहा गया है कि मनु की संतान मानव है। मनु को अपने यहाँ कुलकर माना गया है। जो मानवों को एक कुल की भाँति एक साथ इकट्ठे रहने का उपदेश देता है, वही कुलकर है। अभी समान भाव से रहें। छोटे-बड़े का भेदभाव न आवे तभी मानव होने की सार्थकता है। अपने मन को वश में करने वाले ही महात्मा माने गये हैं। मन को वश में करने का अर्थ मन को दबाना नहीं है, बल्कि मन को समझाना है। मन को दबाने और समझाने में बड़ा अन्तर है। दबाने से तो मन और अधिक तनाव-ग्रस्त हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है। किन्तु मन को यदि समझाया जाये तो वह शान्त होने लगता है। मन को समझाना, उसे प्रशिक्षित करना, तत्त्व के वास्तविक स्वरूप की ओर ले जाना ही वास्तव में, मन को अपने वश में करना है। जिसका मन संवेग और वैराग्य से भरा है वही इस संसार से पार हो पाता है। जैसे घोड़े पर लगाम हो तो वह सीधा अपने गन्तव्य पर पहुँच जाता है। ऐसे ही मन पर यदि वैराग्य की लगाम हो तो वह सीधा अपने गन्तव्य मोक्ष तक ले जाने में सहायक होता है।

सभी दश धर्म आपस में इतने जुड़े हुए हैं कि अलग-अलग होकर भी सम्बन्धित हैं। मार्दव धर्म के अभाव में क्षमा धर्म रह पाना संभव नहीं है, और क्षमा धर्म के अभाव में मार्दव धर्म टिकता नहीं है। मान-सम्मान की आकांक्षा पूरी नहीं होने पर ही तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है। मृदुता के अभाव में छोटी सी बात से मन को ठेस पहुँच जाती है और मान जागृत हो जाता है। जब मान जागृत होता है तो क्रोध की अग्नि भड़कने में देर नहीं लगती।

द्वीपायन मुनि रत्नत्रय को धारण किये हुए थे। वर्षों की तपस्या साथ थी। उस तपस्या का फल, चाहते तो मीठा भी हो सकता था किन्तु वे द्वारिका को जलाने में निमित्त बन गये। दिव्यध्वनि के माध्यम से जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मेरे निमित्त से बारह वर्ष के बाद द्वारिका जलेगी तो यह सोचकर वे द्वारिका से दूर चले गये कि कम से कम बारह वर्ष तक अपने को द्वारिका की ओर जाना ही नहीं है। समय बीतता गया और बारह वर्ष बीत गये होंगे- ऐसा सोचकर वे विहार करते हुए द्वारिका के समीप एक बगीचे में आकर ध्यानमग्न हो गये। वहीं यादव लोग आये और द्वारिका के बाहर फेंकी गई शराब को

पानी समझकर पीने लगे। मदिरापान का परिणाम यह हुआ कि यादव लोग नशे में पागल होकर द्वीपायन मुनि को देखकर गालियाँ देने लगे, पत्थर फेंकने लगे। जब बहुत देर तक यह प्रक्रिया चलती रही और द्वीपायन मुनि को सहन नहीं हुआ तो तैजस ऋद्धि के प्रभाव से द्वारिका जलकर राख हो गयी। तन तो सहन कर सकता था लेकिन मन सहन नहीं कर सका और क्रोध जागृत हो गया।

महाराज जी (आचार्य श्री ज्ञानसागर जी) ने एक बार उदाहरण दिया था। वही आपको सुनाता हूँ। एक गाँव का मुखिया था। सरपंच था। उसी का यह प्रपञ्च है। आप हँसिये मत्। उसका प्रपञ्च दिशाबोध देने वाला है। हुआ यह कि एक बार उससे कोई गलती हो गयी और उन्हें दंड सुनाया गया। समाज गलती सहन नहीं कर सकती ऐसा कह दिया गया और लोगों ने इकट्ठे होकर उसके घर आकर सारी बात कह दी। घर के भीतर उसने भी स्वीकार कर लिया कि गलती हो गयी, मजबूरी थी। पर इतने से काम नहीं चलेगा। लोगों ने कहा कि यही बात मञ्च पर आकर सभी के सामने कहना होगी कि मेरी गलती हो गयी और मैं इसके लिए क्षमा चाहता हूँ। फिर दण्ड के रूप में एक रुपया देना होगा। एक रुपया कोई मायने नहीं रखता। वह व्यक्ति करोड़ रुपया देने के लिए तैयार हो गया लेकिन कहने लगा कि मञ्च पर आकर क्षमा मांगना तो सम्भव नहीं हो सकेगा। मान खण्डित हो जायेगा। प्रतिष्ठा में बट्टा लग जाएगा। आज तक जो सम्मान मिलता आया है वह चला जायेगा।

सभी संसारी जीवों की यही स्थिति है। पाप हो जाने पर, गलती हो जाने पर कोई अपनी गलती मानने को तैयार नहीं है। असल में भीतर मान कषाय बैठा है वह झुकने नहीं देता। पर हम चाहें तो उसकी शक्ति को कम कर सकते हैं, और चाहें तो अपने परिणामों से उसे संक्रमित (ट्रांसफर्ड) भी कर सकते हैं। उसे अगर पूरी तरह हटाना चाहें तो आचार्य कहते हैं कि एक ही मार्ग हैं- समता भाव का आश्रय लेना होगा। अपने शांत और मृदु स्वभाव का चिन्तन करना होगा। यही पुरूषार्थ मान-कषाय पर विजय पाने के लिए अनिवार्य है।

आत्मा की शक्ति और कर्म की शक्ति इन दोनों के बीच देखा जाये तो आत्मा अपने पुरुषार्थ के बल से आत्म-स्वरूप के चिन्तन से मान कषाय के

उदय में होने वाले परिणामों पर विजय प्राप्त कर सकता है। मान को जीत सकता है। इतना संयम तो कषायों को जीतने के लिए आवश्यक ही है। सम्यग्दर्शन तो जीव जन्म से ही लेकर आ सकता है लेकिन मुक्ति पाने के लिए सम्यग्दर्शन के साथ जो विशुद्धि चाहिये वह चारित्र के द्वारा ही आयेगी। वह अपने आप आयेगी, ऐसा भी नहीं समझना चाहिये। आचार्यों ने कहा है कि आठ साल की उम्र होने के उपरान्त कोई चाहे तो सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र को अङ्गीकार कर सकता है। लेकिन चारित्र अंगीकार करना होगा, तभी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा और मुक्ति मिलेगी। कषायों पर विजय पाने योग्य समता परिणाम चरित्र को अंगीकार किये बिना आना/होना संभव नहीं है। आत्मा की अनन्त शक्ति भी सम्यक्चारित्र धारण करने पर ही प्रकट होती है।

एक बात और कहूँ कि सभी कषायें परस्पर एक दूसरे के लिए कारण भी बन सकती है। जैसे मान को ठेस पहुँचती है तो क्रोध आ जाता है। मायाचारी आ जाती है। अपने मान की सुरक्षा का लोभ भी आ जाता है। एक समय की बात है कि एक व्यक्ति एक सन्त के पास पहुँचा। उसने सुन रक्खा था कि सन्त बहुत पहुँचे हुए हैं। उसने पहुँचते ही पहले उन्हें प्रणाम किया और विनयपूर्वक बैठ गया। चर्चा वार्तालाप के बाद उसने कहा कि आप हमारे यहाँ कल का आतिथ्य स्वीकार करिये। अपने यहाँ हम आपको कल के भोजन के लिए निमन्त्रित करते हैं। सन्त जी निमन्त्रण पाने वाले रहे होंगे, इसलिए निमन्त्रण मान लिया। देखो निमन्त्रण 'मान' लिया, इसमें भी 'मान' लगा है।

दूसरे दिन ठीक समय पर वह व्यक्ति आदर के साथ उन्हें घर ले गया, अच्छा आतिथ्य हुआ। मान-सम्मान भी दिया। अन्त में जब सन्त जी लौटने लगे तो उस व्यक्ति ने पूछ लिया कि आपका शुभ नाम मालूम नहीं पड़ सका। आपका शुभ नाम मालूम पड़ जाता तो बड़ी कृपा होगी। सन्त जी ने बड़े उत्साह से बताया कि हमारा नाम शान्तिप्रसाद है। वह व्यक्ति बोला बहुत अच्छा नाम है। मैं तो सुनकर धन्य हो गया, आज मानों शान्ति मिल गयी। वह उनको भेजने कुछ दूर दस बीस कदम साथ गया और उसने फिर से पूछ लिया कि क्षमा कीजिये, मेरी स्मरण शक्ति कमजोर है। मैं भूल गया आपने क्या नाम बताया था? सन्त जी ने उसकी ओर गौर से देखा और कहा कि शान्तिप्रसाद, अभी तो मैंने बताया था। वह व्यक्ति बोला हाँ ठीक-ठीक

ध्यान आ गया आपका नाम शान्तिप्रसाद है। अभी जरा दूर और पहुँचे थे कि पुनः वह व्यक्ति बोला कि क्या करूँ? कैसा मेरा कर्म का तीव्र उदय है कि मैं बार-बार भूल जाता हूँ। आपने क्या नाम बताया था? अब की बार सन्त जी ने घूरकर उसे देखा और बोले शान्तिप्रसाद, शान्तिप्रसाद- मैंने कहा ना। वह व्यक्ति चुप हो गया और आश्रम पहुँचते-पहुँचते जब उसने तीसरी बार कहा कि एक बार और बता दीजिये आपका शुभ नाम। उसे तो जितनी बार सुना जाए उतना ही अच्छा है। अब सन्त जी की स्थिति बिगड़ गयी, गुस्से में आ गये। बोले क्या कहता है तूँ। कितनी बार मुझे बताया कि शान्तिप्रसाद, शान्तिप्रसाद! वह व्यक्ति मन ही मन मुस्कराया और बोला, मालूम पड़ गया है कि नाम आपका शान्तिप्रसाद है पर आप तो ज्वालाप्रसाद है। अपने मान को अभी जीत नहीं पाये, क्योंकि मान को जरा सी ठेस लगी और क्रोध की ज्वाला भड़क उठी।

बंधुओं! ध्यान रखो जो मान को जीतने का पुरुषार्थ करता है वही मार्दव धर्म को अपने भीतर प्रकट करने में समर्थ होता है। पुरुषार्थ यही है कि ऐसी परिस्थिति आने पर हम यह सोचकर चुप रह जायें कि यह अज्ञानी है। मुझसे हँसी कर रहा है या फिर सम्भव है कि मेरी सहनशीलता की परीक्षा कर रहा है। उसके साथ तो हमारा व्यवहार, माध्यस्थ भाव धारण करने का होना चाहिये। कोई वचन व्यवहार अनिवार्य नहीं है। जो विनयवान हो, ग्रहण करने की योग्यता रखता हो, हमारी बात समझने की पात्रता जिसमें हो, उससे ही वचन व्यवहार करना चाहिये। ऐसा आचार्यों ने कहा है। अन्यथा 'मौन सर्वत्र साधनम्'- मौन सर्वत्र/सदैव अच्छा साधन है।

द्वीपायन मुनि के साथ यही तो हुआ कि वे मौन नहीं रह पाये, और यादव लोग भी शराब के नशे में आकर मौन धारण नहीं कर सके। 'मदिरापानादिभिः मनसः पराभवो दृश्यते'[3]- मदिरा पान से मन का पराभव होते देखा जाता है। पराभव से तात्पर्य है पतन की ओर चले जाना। अपने सही स्वभाव को भूलकर गलत रास्ते पर मुड़ जाना। गाली के शब्द तो किसी के भी कानों में पड़ सकते हैं लेकिन ठेस सभी को नहीं पहुँचती। ठेस तो उसी के मन को पहुँचती है जिसे लक्ष्य करके गाली दी जा रही है। या जो ऐसा समझ लेता है कि गाली मुझे दी जा रही है। मेरा अपमान किया जा रहा है।

द्वीपायन मुनि को भीतर तो यही श्रद्धान था कि मैं मुनि हूँ। मेरा वैभव समयसार है। समता परिणाम ही मेरी निधि है। मार्दव मेरा धर्म है। मैं मानी

नहीं हूँ, लोभी वहीं हूँ। मेरा यह स्वभाव नहीं है। रत्नत्रय धर्म उनके पास था, उसी के फलस्वरूप तो उन्हें ऋद्धि प्राप्त हुई थी। लेकिन मन में पर्याय बुद्धि जागृत हो गयी कि गाली मुझे दी जा रही है। आचार्य कहते हैं कि 'पज्जयमूढ़ा हि परसमया'[4] जो पर्याय में मुग्ध हैं, मूढ़ है वह पर-समय है। पर्याय का ज्ञान होना बाधक नहीं है परन्तु पर्याय में मूढ़ता आ जाना बाधक है। पर्याय बुद्धि ही मान को पैदा करने वाली है। पर्याय बुद्धि के कारण उनके मन में आ गया कि वे मेरे ऊपर पत्थर बरसा रहें हैं, मुझे गाली दी जा रही है और उपयोग की धारा बदल गयी। उपयोग में उपयोग को स्थिर करना था, पर स्थिर नहीं रख पाये। उपयोग आत्म-स्वभाव के चिन्तन से हटकर बाहर पर्याय में लग गया और मान जागृत हो गया।

जो अपने आप में स्थित है, स्वस्थ है उसे मान-सम्मान सब बराबर है। उसे कोई गाली भी दे तो वह सोचता है कि अच्छा हुआ अपनी परख करने का अवसर मिल गया। मालूम पड़ जायेगा कि कितना मान कषाय अभी भीतर शेष है। यदि ठेस नहीं पहुँचती तो समझना कि उपयोग, उपयोग में है। ज्ञानी की यही पहचान है कि वह अपने स्वभाव में अविचल रहता है। वह विचार करता है कि दूसरे के निमित्त से मैं अपने परिणाम क्यों बिगाड़ूँ? अगर अपने परिणाम बिगाड़ूँगा तो मेरा ही अहित होगा। कषाय दुःख की कारण है। पाप-भाव दुःख ही है। आचार्य उमास्वामी ने कहा है 'दुःखमेव वा'[5] आनन्द तो तब है जब दुःख भी 'मेवा' हो जाये। सुख और दुःख दोनों में साम्य भाव आ जाये।

मान कषाय का विमोचन करके ही हम अपने सही स्वास्थ्य का अनुभव कर सकते हैं, साम्य भाव ला सकते हैं। जैसे दूध उबल रहा है अब उसको अधिक नहीं तपाना है तब या तो उसे सिगड़ी से नीचे उतार कर रख दिया जाता है या फिर अग्नि को कम कर देते हैं। तब अपने आप वह धीरे-धीरे अपने स्वभाव में आ जाता है, स्वस्थ हो जाता है अर्थात् शान्त हो जाता है और पीने योग्य हो जाता है। ऐसे ही मान कषाय के उबाल से अपने को बचाकर हम अपने स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकते हैं। मान का उबाल शान्त होने पर ही मार्दव धर्म प्राप्त होता है। मान को अपने से अलग कर दें या कि अपने को ही मान कषाय से अलग कर लें, तभी मार्दव धर्म प्रकट होगा।

अन्त में इतना ही ध्यान रखिये कि अपने को शान्तिप्रसाद जैसा नहीं करना है। हाँ, यदि कोई गाली दे, कोई प्रतिकूल वातावरण उपस्थित करे तो

अपने को शान्तिनाथ भगवान को नहीं भूलना है। अपने परिणामों को संभालना अपने आत्म-परिणामों की सँभाल करना ही धर्म है। यही करने योग्य कार्य है। जिन्होंने इस करने योग्य कार्य को सम्पन्न कर लिया वे ही कृतकृत्य कहलाते हैं। वही सिद्ध परमेष्ठी कहलाते हैं, जिनकी मृदुता को अब कोई खण्डित नहीं कर सकता। हम भी मृदुता के पिण्ड बनें और जीवन को सार्थक करें।

मार्दव धर्म–

१. (अ) अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् परीक्षामुख सूत्र-५/१

(ब) स्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरूपजायते। सा फलमित्युच्यते। उपेक्षा अज्ञाननाशो व फलम्- सर्वार्थसिद्धि १/१०/१९०/९०७

२. कातन्त्ररूपमाला- प्रथम संदर्भ, सूत्र ४९३

३. तेषां मनः प्राणापानानां मूर्तिमत्त्ववसेयम् । कुतः? मूर्तिमद्भिः प्रतिघातादिदर्शवात्। प्रतिभयहेतुभिरशनिपातादिभिर्मनसः प्रतिघातो दृश्यते, सुरादिभिश्चाभिभवः। सर्वार्थसिद्धि ५/१९/५६३/२१९

४. अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ।।
प्रवचनसार-द्वितीय अधिकार (गाथा-१)

५. तत्वार्थसूत्र, ७/९०

□□

उत्तम आर्जव

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो।
अज्जवधम्मं तइयो, तस्स दु संभवदि णियमेण ।।

□ **जो मनस्वी पुरुष कुटिल भाव वा मायाचारी परिणामों को छोड़कर शुद्ध हृदय से चारित्र का पालन करता है, उसके नियम से तीसरा आर्जव नाम का धर्म होता है। (७३)**

'योगस्यावक्रता आर्जवम्'[१], योगों की वक्रता न होना ही आर्जव धर्म है। ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में कहा है। मन, वचन और काय इन तीनों की क्रियाओं में वक्रता नहीं होने का नाम 'आर्जव' है। ऋजोर्भावो ऋजुता का भाव ही आर्जव है। ऋजुता का अर्थ है सीधापन। ध्यान करते समय ध्यान के काल में आनन्द कब आता है? कौन सी वह घड़ी है जो आनन्द लाती है? तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि घड़ी देखते हुए ध्यान करने वालों के जीवन में ऐसी घड़ी नहीं आयेगी क्योंकि आपका मन अपने में लीन नहीं है। अपनी सीमा का उल्लंघन कर रहा है। अपनी सीमा से वहाँ तात्पर्य है मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को सीमित करना और उसमें वक्रता नहीं आने देना। सीधे होने के उपरान्त ही एकाग्रता सम्भव होती है और एकाग्रता आये तो आनन्द की प्राप्ति स्वतः होने लगाती है।

ध्यान में एकाग्रता लाने के लिए ध्यान में बैठने से पहले समझाया जाता है कि रीढ़ की हड्डी सीधी करके बैठना। जिस व्यक्ति के अभी रीढ़ में सीधापन नहीं आया, शरीर में सीधापन नहीं आया, वह ध्यान में एकाग्रता कैसे ला पायेगा? जीवन की रीढ़ सीधी होनी चाहिये, क्योंकि चारित्र ही जीवन की रीढ़ है। यदि वह न हो अथवा हो पर वक्र हो, तब आर्जव धर्म नहीं आ पायेगा।

विषय-कषाय में उलझे हुए उपयोग को वहाँ से हटाकर योग की ओर ले आना और फिर योगों की व्यर्थ प्रवृत्ति को रोककर दृष्टि को अपने में स्थिर करना, सीधे अपने से सम्पर्क करना, एक पर टिक जाना, प्रकंपित नहीं होना, चंचल नहीं होना ही ऋजुता है। यही आर्जव-धर्म है। जैसे जल के पास शीतलता है, तरलता भी है, अग्नि बुझाने की क्षमता भी है और बहने का स्वभाव भी है। इसके अलावा कोई आकर उसमें अपना मुख देखना चाहे तो

झाँकने पर मुख भी दिख जाता है। यह जल की विशेषता है। लेकिन यदि जल स्पन्दित हो, तरंगायित हो, हवा के झोंकों से उसमें लहरें उठ रही हों, तब आप उस जल में सामने जाकर भी अपना मुख नहीं देख पायेंगे। जल में क्षमता होते हुए भी उस समय वह प्रकट नहीं है क्योंकि जल तरङ्गित हो गया है। इस प्रकार भोगों के माध्यम से आत्मा में होने वाले परिस्पन्दन के समय आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप में अनुभव नहीं किया जा सकता।

एक बात और है कि यदि जल शान्त भी हो और हमारी दृष्टि चलायमान हो, तो भी जल के तल में पड़ी वस्तु देखने में नहीं आयेगी। लेकिन जो व्यक्ति जल की वक्रता होते हुए भी अपनी दृष्टि को निष्पन्द कर लेता है तो वह लहरों को भेदकर भीतर की वस्तु को देखने में भी समर्थ हो जाता है। जिसकी दृष्टि में एकाग्रता रहती है उसको नियम से उन लहरों में भी रास्ता मिल जाता है। इसी प्रकार साधक को अपने-मन-वचन और काय की चञ्चलता के बीच एकाग्र होकर अपने आत्मस्वरूप का दर्शन करने का प्रयास करना चाहिये।

अपने यहाँ भेद विज्ञान की बड़ी विशेषता बतायी गयी है। भेद-विज्ञान का अर्थ इतना ही नहीं है कि जो बहुत मिले-जुले पदार्थ हैं, उन्हें अलग-अलग करना, किन्तु भेद विज्ञान का अर्थ यह भी है कि भेद करके भीतर पहुँच जाना। लहरों के कारण वस्तु हमें ऊपर देखने में नहीं आती, लेकिन यदि हम भीतर डूब जायें तो ऊपर उठने वाली लहरों के कारण भीतर किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुँच सकती। जो व्यक्ति एक बार वस्तु के स्वरूप में डूब जाता है तो फिर बाह्य में पर्याय की चञ्चलता उसे बाधक नहीं बनती। अभी जिसकी दृष्टि में भेदने की क्षमता नहीं आयी तो वह ऊपर उठने वाली लहरों के समान पर्यायों को ही देखेगा और उन्हीं में उलझता रहेगा। उन्हीं को लेकर रागद्वेष करता रहेगा। वह जितना-जितना रागद्वेष के माध्यम से उलझेगा, उतना-उतना स्वयं को देख नहीं पायेगा। वह कहेगा अवश्य कि देख रहा हूँ, लेकिन मात्र सतह को ही देख पायेगा।

किसी को बुखार आ जाता है तो कोई हकीम-बैद्य की तरह हाथ की नब्ज देखने लगे, तो क्या देखेगा? केवल नाड़ी की फड़कन को ही देख पायेगा। फड़कन देखना तो आसान है, उसे सभी देख लेते हैं लेकिन भीतर कहाँ क्या रोग हुआ है, इसका ज्ञान तो नाड़ी के विशेषज्ञ को ही हो सकता है; क्योंकि नाड़ी का स्पन्दन भीतर की व्याधि की सूचना देता है। अकेले नाड़ी की फड़कन को देखना जैसे पर्याप्त नहीं है इसके माध्यम से भीतर

की व्याधि को जानना भी आवश्यक है, इसी प्रकार 'भेदं कृत्वा यद् विज्ञानं तद् भेदविज्ञानम्' या कहो कि 'भेदस्य यद्विज्ञानं तद् भेदविज्ञानम्'- भेद करके जो जानता है वह भेद विज्ञानी है अथवा भेद को अर्थात् भीतरी रहस्य को जो जानता है वह भेदविज्ञानी है।

जिन परमपैनी सुबुधि छैनी, डारि अंतर भेदिया ।
वर्णादि अरु रागादि तैं निजभाव को न्यारा किया ॥

भेद विज्ञान रूपी अत्यन्त पैनी छैनी के द्वारा, जो एक जैसा दिखाई पड़ रहा है, वह पृथक्-पृथक् हो जाये। उसका भेद समझ में आ जाये, तो अपने निज-स्वभाव को उससे पृथक् किया जा सकता है। एक हंस होता है तथा एक बगुला होता है। दोनों सफेद होते हैं और दोनों की चोंच होती है लेकिन हंस की चोंच के भीतर ऐसी विशेषता है कि वह दूध और जल को पृथक्-पृथक् बना देता है और दूध का आसानी से सेवन करता रहता है और जल को छोड़ता जाता है? तात्पर्य यह हुआ कि जिसके पास भेद-विज्ञान आ जाता है वह सीधे अपनी निजी वस्तु तक पहुँच जाता है और व्यर्थ के रागद्वेष में नहीं उलझता।

जब तक हम इस रागद्वेष में उलझते रहेंगे तब तक हम अपने भीतर वहाँ नहीं पहुँच पायेंगे जहाँ ऋजुता का पारावार है। वास्तव में देखा जाये तो दूसरे की ओर जाना ही टेढ़ापन है। रागद्वेष करना ही उलझना है। अपनी ओर आना हो तो सीधेपन से ही आना सम्भव है। रागद्वेष के अभाव में ही सुलझा जा सकता है। जैसे सीधी तलवार हो तो ही म्यान में जायेगी किन्तु यदि टेढ़ी हो तो नहीं जायेगी। ऐसे ही यदि ज्ञान का विषय सीधा ज्ञान ही बन जाये तो नियम से समझना काम हो जायेगा। किन्तु यदि ज्ञान का विषय हम अन्य किसी को बनाते हैं और बाह्य पदार्थों के साथ अपने ज्ञान को जोड़ते हैं तो वक्रता नियम से आयेगी, रागद्वेष रूपी उलझन खड़ी हो जायेगी।

जैसे सीधे देखते हैं तो कोई एङ्गल (कोण) नहीं बनता, टेढ़ापन नहीं आता। यदि थोड़ा भी अपने सिवाय कोई आजू-बाजू की वस्तुओं पर दृष्टिपात करता है तो आँख को मोड़ना पड़ेगा और कोण बन जायेगा अर्थात् दृष्टि में वक्रता आ जायेगी। इसी प्रकार मोह-माया के वशीभूत होकर यह जीव अपने-आत्म स्वभाव की ओर जब तक दृष्टिपात नहीं करता जो कि बिल्कुल सीधा है, तो नियम से वक्रता आती है। अपने स्वभाव से स्खलित होना पड़ता है आर्जव धर्म अपने स्वभाव की ओर सीधे गमन करने पर ही सम्भव है।

बच्चों को आनन्द तभी आता है जब वे सीधे-साधे न भागकर टेढ़े-मेढ़े भागते हैं। यही दशा वैभाविक दशा में संसारी प्राणी की है। उसे टेढ़ेपन में ही आनन्द आता है जबकि वह आनन्द नहीं है। वह तो मात्र सुखाभास है, जो दुःख रूप ही है। विभाव रूप परिणति का नाम ही एक प्रकार से वक्रता है। जल में कोई चीज डालो तो सीधी नहीं जाती, यहाँ-वहाँ होकर नीचे जाती है। वैसे ही संसार में जब तक जीव रागद्वेष-मोह के साथ है तब तक वह चलेगा भी, तो जल में डाली गयी वस्तु के समान ही टेढ़ा चलेगा, सीधा नहीं चलेगा। उसका कोई भी कार्य सीधा नहीं होता। आप देख लीजिये आपके देखने में टेढ़ापन, आपके चलने में टेढ़ापन, आपके खाने-पीने, उठने-बैठने में टेढ़ापन, बोलने और यहाँ तक कि सोचने में भी टेढ़ापन है। सोचना स्वयं ही स्पन्दन रूप है अर्थात् विभाव है और विभाव ही टेढ़ापन है। वास्तव में परमार्थ से देखा जाये, ऋजुता तो स्वभाव में किसी भी प्रकार की विक्रिया सम्भव नहीं होती और विभाव में किसी भी प्रकार की प्रक्रिया बिना विक्रिया के नहीं होती।

आपने युद्ध का वर्णन पुराणों में पढ़ा होगा। देखा-सुना भी होगा। दो तरह के आयुध होते हैं। कुछ जो फेंककर युद्ध में प्रयुक्त करते हैं। वे 'अस्त्र' कहलाते हैं और कुछ हाथ में लेकर ही लड़ाई की जाती है। वे 'शस्त्र' कहलाते हैं। धनुष बाण अस्त्र हैं। बाण से निशाना साधने वाला कितना ही दक्ष क्यों न हो यदि वह बाण टेढ़ा है तो लक्ष्य तक, मंजिल तक नहीं पहुँच पायेगा। पहले बाण का सीधा होना आवश्यक है फिर सीधा बाण लेकर जब निशाना साधते हैं तो दृष्टि में निष्पन्दता होनी चाहिये और हाथ भी निष्कम्प होना चाहिये। हृदय में धैर्य होना चाहिये। अब तो समय के साथ सब कुछ बदल गया। धनुष के स्थान पर बंदूकें आ गयीं क्योंकि हृदय में, हाथ में और दृष्टि में सभी में चञ्चलता आती जा रही है। भय आता जा रहा है। आज तो छुप-छुप कर लड़ाई होती है। यह क्षत्रियता नहीं है, यह वीरता नहीं है बल्कि यह तो कायरता है। यह ऋजुता नहीं बल्कि वक्रता का परिणाम है।

आज का जीवन भय से इतना त्रस्त हो गया है कि किसी के प्रति मन में सरलता नहीं रही। आज आणाविक-शक्ति का विकास हो रहा है। दूसरे पर निगाह रखने के लिए रडार का उपयोग किया जा रहा है लेकिन यह सब चञ्चलता का सूचक है। जिस दिन यह चञ्चलता अधिक बढ़ जायेगी उसी

दिन विस्फोट हो जायेगा और विनाश होने में देर नहीं लगेगी। बंधुओं! सुरक्षा तो सरलता में है। वक्रता में नहीं। वक्रता या चञ्चलता में सुरक्षा कभी सम्भव नहीं है।

आपने दीपक की लौ देखी होगी उससे प्रकाश होता रहता है और उष्मा भी निकलती रहती है। लेकिन यदि दीपक को लौ स्पन्दित हो तो प्रकाश में तेजी नहीं रहती। आप इस प्रकाश में पढ़ना चाहें तो आसानी से पढ़ नहीं सकते और दूसरी बात यह है कि उस समय उष्मा भी कम हो जाती है। सीधी निष्पन्द जलती हुई लौ पर हाथ रखो तो फौरन जलन होने लगेगी। लेकिन यदि लौ हिल रही हो, प्रकम्पित हो तो हाथ रखने पर एकदम नहीं जलता। कुछ गरमाहट तो होती है लेकिन तीव्र जलन नहीं होतीं। कारण यही है कि लौ में एकाग्रता होने पर उसमें प्रकाश और उष्मा की सामर्थ्य अधिक बढ़ जाती है। लेकिन हवाओं के माध्यम से जब वही लौ चञ्चल हो जाती है, स्पन्दित होने लगती है, उसमें टेढ़ापन आ जाता है, वक्रता आ जाती है तो उसकी सामर्थ्य कमजोर पड़ जाती है। इसी प्रकार जब तक हमारा ज्ञान, माया रूपी हवाओं से स्पन्दित होता रहता है तब तक उसमें एकाग्र होने और जलाने की क्षमता अर्थात् कर्मों को जलाने या कर्मों की निर्जरा करने की क्षमता नहीं आ पाती। इसलिए हमें अपने ज्ञान को एकाग्र अर्थात् सीधा बनाना चाहिये। ज्ञान की वक्रता यही है कि वह पर पदार्थों को अपना मानकर उनकी ओर मुड़ने लग जाता है। उनमें उलझने लग जाता है और यदि वह पर पदार्थों को पकड़ने के लिए, अपने में स्तब्ध, स्थिर एवं एकाग्र हो जाये तो वही ज्ञान कर्मों की निर्जरा में सहायक हो जाता है।

"ज्ञान का दूसरे की ओर ढुलक जाना ही दीनता है.... और ज्ञान का ज्ञान की ओर वापिस आना ही स्वाधीनता है।" धन्य है वह ज्ञान जो पर पदार्थों की आधीनता स्वीकार नहीं करता। धन्य है वह ज्ञान जो बिल्कुल टङ्कोत्कीर्ण एक मात्र ज्ञायक पिण्ड की तरह रहा आता है। धन्य है वह ज्ञान जिस ज्ञान में तीन लोक पूरे के पूरे झलकते हैं, लेकिन फिर भी जो अपने आत्म आनन्द में लीन हैं।

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन ।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि-रज-रहस-विहीन ।।[4]

संसारी प्राणी ज्ञान की चञ्चलता के कारण या कहें ससांर में भटकने और उलझने की इच्छा के कारण त्रस्त हो रहा है और दीन-हीन हो रहा है। अपने स्वभाव की ओर देखने का पुरुषार्थ करें तो सुलझने में देर नहीं लगेगी।

जिस प्रकार खाया हुआ अन्न देह में, रग-रग में मिलकर रुधिर बन जाता है, उसी प्रकार हमारे जीवन में सरलता या सुलझापन हमारा अभिन्न अङ्ग बन जाये तो जीवन धन्य एवं सार्थक हो जायेगा।

अपव्यय के रूप में उस कार में से एक बूँद भी पेट्रोल नीचे नहीं गिरा। मशीन भी ठीक काम कर रही थी पर देखा गया कि कार रूक, गयी। उसमें एक बूँद पेट्रोल भी नहीं बचा। अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए जितना पेट्रोल आवश्यक था उतना उसमें डाला गया था लेकिन वह पहले ही कैसे समाप्त हो गया? तब उसे चलाने वाले ने कहा कि कार तो और अधिक भी चल सकती थी, लेकिन रुकने का कारण यही है कि रास्ते की वक्रता के कारण पेट्रोल अधिक खर्च हुआ और दूरी कम तय की गयी। अगर रास्ता सीधा हो तो इतने ही पेट्रोल से अधिक दूरी तक कार को ले जाया जा सकता था। यदि सरल-पथ हो तो वह लाभ मिल सकता है।

बंधुओं! आज आर्जव-धर्म की बात है। ऋजुता के अभाव में जब जड़ पदार्थ भी ठीक काम नहीं कर सकता, तो फिर चेतन को तनाव तो होता ही है। वक्रता तनाव उत्पन्न करती है। हमारे उपयोग में वक्रता होने के कारण मन में वक्रता, वचन में वक्रता और काय-चेष्टाओं में भी वक्रता आ जाती है। जैसा हम चाहते हैं, जैसा मन में विचार आता है, वैसा ही हम उपयोग को बदलना प्रारम्भ कर देते हैं। लेकिन यह ठीक नहीं है। यही तनाव का कारण बनता है। वास्तव में जैसा हम चाहते हैं उसके अनुसार नहीं, बल्कि जैसी वस्तु है उसके अनुसार हम अपने उपयोग को बनाने की चेष्टा करें तो ऋजुता आयेगी। हमें जानना चाहिये कि उपयोग के अनुरूप वस्तु का परिणमन नहीं होता। किन्तु ज्ञेयभूत वस्तु के अनुरूप ज्ञान जानता है, अन्यथा वह ज्ञान अप्रमाणता की कोटि में आ जाता है।

विचार करें वक्रता कैसे आती है और क्यों आती है? तो बात ऐसी है कि जिस प्रकार के जीवन को हम जीना चाहते हैं या जिस जीवन के आदी बन चुके हैं उसी के अनुसार ही सब कुछ होता चला जाता है। जैसे किसी पौधे को कोई कुछ प्रबन्ध करके सीधा ऊपर ले जाने की चेष्टा करे तो वह पौधा सीधा ऊपर बढ़ने लगता है। यदि कोई प्रबन्ध नहीं किया जाए तो नियम से पौधा विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में बँटकर यहाँ वहाँ फैलने लग जाता है और उसकी उर्ध्वगति रूक जाती है। इसी प्रकार यदि हम अपनी शक्ति को इधर-उधर नहीं दौड़ाते तो हमारी यह शक्ति एक ही दिशा में लगकर अधिक काम कर सकती है। लेकिन आज टेढ़ा-मेढ़ा चलना ही संसारी प्राणी का स्वभाव जैसा हो गया है और निरन्तर

गी में शक्ति का अपव्यय हो रहा है। वक्रता बढ़ती जा रही है। वक्रता का संसार दिनोंदिन और मजबूत होता जा रहा है।

सरलता की शक्ति को पहचानना होगा। सरलता की शक्ति अद्‌भुत है। आज जो कार्य यन्त्र नहीं कर सकता, पहले वही कार्य मनुष्य मन्त्र के माध्यम से अपनी शक्ति को एक दिशा में लगाकर कर लेता था। बात ऐसी है कि धारणा के बल पर जिस क्षेत्र से हम बढ़ने लग जाते हैं वहाँ पर बहुत कुछ साधना अपने आप होती चली जाती है। वस्तुतः यह एक दृष्टिकोण का कार्य है। एक आपने विचार बना लिया, या जिस रूप में धारणा बना ली, उसी रूप में वह वस्तु देखने में आने लगती है। जिस दिशा में हमारी दृष्टि सीधी-साफ होती है उसी दिशा में सफलता मिलना प्रारम्भ हो जाती है। वक्रता का अभाव और ऋजुता का सद्‌भाव होना चाहिये। जैसे आपकी दृष्टि किसी वस्तु को या मान लीजिये पाषाण को देखने में लगी है। और उसे साधना के बल से अनिमेष देखने लगें, तो सम्भव है कि उस दृष्टि के द्वारा पाषाण भी टूट सकता है और लोहा भी पिघल सकता है। इतनी शक्ति आ सकती है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि दृष्टि को सीधा रखा जाए और प्राण-प्रण से उसी में लगाया जाए।

मान लीजिये, आप बैठे हैं और जगह ऐसी है कि इधर-उधर जाने की कोई गुञ्जाइश नहीं है। अचानक एक बड़ा सा काला बिच्छू पास बैठा हुआ दिख जाए तो मैं पूछना चाहता हूँ कि आप अपने शरीर के किसी भी अङ्ग उपाङ्ग को हिलायेंगे-डुलायेंगे क्या? नहीं हिलायेंगे, बल्कि एकदम स्तब्ध से होकर बैठे रह जायेंगे, जैसे कि कोई योगी ध्यान में बैठा हो।

"सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावतें ।
तिन सुथिर मुद्रा देख मृगगण उपल खाज खुजावते ॥"

मन-वचन-काय की क्रियाओं का भली प्रकार निरोध करके जैसे कोई योगी अपनी आत्मा के ध्यान में लीन हो जाता है। उसकी स्थिर-मुद्रा को देखकर वन में विचरण करने वाले हिरण लोग उसे चट्टान समझकर अपने शरीर को रगड़ने लग जाते हैं। ऐसी ही दशा उस समय आपकी हो जायेगी। आपके पास यह शक्ति इस समय कहाँ से आ गयी? वह कहीं अन्यत्र से नहीं आती अपितु यह शक्ति तो पहले से ही विद्यमान थी। पर आप उस समय हिल जाते तो बिच्छू ही आपको हिला देता। इसलिए प्राणों की रक्षा की बात आते ही आपने अपनी ऋजुता की शक्ति का पूर्ण निर्वाह किया। अपनी शक्ति का सही उपयोग किया।

प्रत्येक क्षेत्र में यही बात है। आप चाहें तो धर्म के क्षेत्र में भी यही बात अपना सकते हैं। शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और शैक्षणिक आदि सभी विधाओं के लिए एकमात्र दृष्टि की ऋजुता ही उपयोगी है। यदि एक ही वस्तु पर ध्यान केन्द्रित हो जाए तो नियम से क्रान्ति घटित हो जायेगी। एक व्यक्ति बहुत ही प्रेम-भाव के साथ देखता है। उसकी दृष्टि में सरलता होती है तो सामने वाला व्यक्ति भी उसकी और सहज ही आकृष्ट हो जाता है। कोई व्यक्ति जिसकी दृष्टि में वक्रता है, जिसके भावों में कुटिलता है तो उसे देखकर हर कोई उससे बचना प्रारम्भ कर देता है। जैसे मुस्कारती हुई माँ की दृष्टि ज्यों ही सीधी बच्चे के ऊपर पड़ती है तो वह बच्चा रोना भूल जाता है और देखने लगता हैं। इतना सरल हो जाता है कि सब कुछ भूलकर उसी सुख में लीन हो जाता है। यही सरलता की बात है।

जब हम ज्यामेट्री (ज्यामिति) पढ़ते थे, उस समय की बात है। उसमें कई प्रकार के कोण बनाये जाते थे। एक सरल-कोण होता था। एक सौ अस्सी अंश के कोण को सरल-कोण बोलते हैं। सरल कोण क्या है? वह तो एक सीधी रेखा ही है। हमारी दृष्टि में आज भी इतनी सरलता आ सकती है कि उसमें सरल-कोण बन जाये। हम सरलता के धनी बन सकते हैं। जिसकी दृष्टि में ऐसा सरल कोण बन जाता है तो वह श्रमण बन जाता है। वह तीन-लोक में पूज्य हो जाता है। लेकिन हमारे जीवन में ऐसे बहुत कम समय आ पाते हैं जबकि दृष्टि में सरल कोण बने और दृष्टि में सरलता आये।

आँख के उदाहरण के माध्यम से हम और समझें कि हमारी दोनों आँखों को दोनों ओर दायें-बायें अपनी विपरीत दिशा की ओर भेज करके सरल कोण बनाना चाहें तो यह संभव नहीं है। दो आँखों से हम दो काम नहीं कर सकते। जब वस्तु के ऊपर दोनों आँखों की दृष्टि पड़ती है और दृष्टि चंचल नहीं हो तो ही वस्तु सही ढंग से दिखायीं पड़ सकती है, अन्यथा नहीं। बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपनी दृष्टि को स्थिर रख पाते हैं और सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। नासाग्र दृष्टि ही ऐसी सरल दृष्टि है जहाँ विपरीतता समाप्त हो जाती है और समता आ जाती है। दृष्टि वहाँ दृष्टि में ही रह जाती है। दृष्टि का एक अर्थ यहाँ प्रमाण-ज्ञान से भी है और दृष्टि कोण का अर्थ नय ज्ञान से है।

'नयन' शब्द में देखा जाए तो नय + न अर्थात् नयों के पार जो दृष्टि है वही वास्तव में शांत निर्विकल्प और सरल दृष्टि है। नयनों को विश्राम देना

हो, आराम देना हो, उनकी पीड़ा दूर करना हो तो एक ही उपाय है कि दृष्टि को नासाग्र रखो। भगवान कैसे बैठे हैं? 'छवि वीतरागी नग्न मुद्रा दृष्टि नासा पै धरें।' हमारी यानी छद्मस्थों की दृष्टि वह मानी जाती है जो पदार्थ की ओर जाने का प्रयास करती है। और सर्वज्ञ की दृष्टि वह है जिसमें पूरे के पूरे लोक के जितने पदार्थ हैं- भूत, अनागत और वर्तमान वे सब युगपत् दर्पण में के समान झलक जाते हैं-

"तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥"

उमास्वामी महाराज ने अपने तत्वार्थसूत्र में कहा है कि 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।' और एकाग्रता का अर्थ बताते हुए अकलंक स्वामी अपने तत्वार्थवार्तिक में लिखते हैं कि 'व्यग्रतानिवृत्यर्थम् एकाग्रताशब्दस्य प्रयोगः' एकाग्रता शब्द का प्रयोग व्यग्रता के निरोध के लिए आया है। जहाँ पदार्थ को देखने की व्यग्रता नहीं है, वहीं दृष्टि सरल है। केवलज्ञान के लिए ऐसे ही ध्यान की आवश्यकता है। ऐसी ही एकाग्र अर्थात् सरल दृष्टि की आवश्यकता है। वस्तु को जानने के लिए व्यग्र हुए ज्ञान के द्वारा केवलज्ञान होगा। जब ज्ञान स्थिर हो जायेगा उसमें व्यग्रता रूप वक्रता का अभाव हो जाएगा, वह ध्यान में ढल जायेगा तभी केवलज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होगा।

पूरे आगम ज्ञान का अध्येता भी क्यों न हो वह भी तब तक मुक्ति का अधिकारी नहीं बन सकता, अपनी आत्मा की अनुभूति में लीन नहीं हो सकता जब तक कि उसकी व्यग्रता नहीं मिटती। जब तक कि दृष्टि रागद्वेष से मुक्त होकर सरल नहीं होती। व्यग्रता दूर करने के लिए ध्यान की एकाग्रता उपाय है। ध्यान के माध्यम से हम मन-वचन-काय की चेष्टाओं में ऋजुता ला सकते हैं और इन योगों में जितनी-जितनी ऋजुता/सरलता आती जायेगी, उपयोग में भी उतनी-उतनी व्यग्रता/वक्रता धीरे-धीरे मिटती जायेगी।

आचार्यों ने वक्रता को माया-कषाय के साथ भी जोड़ा है और माया को तिर्यंच आयु के लिए कारण बताया है। "माया तैर्यग्योनस्य।" तिर्यक् शब्द का एक अर्थ तिरछा या वक्र भी है। इधर-उधर दृष्टि का जाना ही दृष्टि की वक्रता है। इधर-उधर कौन देखता है? वही देखता है जिसके भीतर कुछ डर रहता है। आपने कबूतर को देखा होगा। एक दाना चुगता है लेकिन इस बीच उसकी दृष्टि पता नहीं कितनी बार इधर-उधर चली जाती है। मायाचारी व्यक्ति को दिशा जल्दी नहीं मिलती। मायाचारी तिर्यञ्च गति का पात्र इसी से बनता है।

माया अर्थात् वक्रता भी कई प्रकार की है अनन्तानुबंधी जन्य वक्रता अलग है, अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान कषायजन्य वक्रता अलग है और सञ्ज्वलन की वक्रता अलग है। आचार्यों ने अनन्तानुबंधी जन्य वक्रता के लिए बाँस की जड़ का उदाहरण दिया है। गांठों में गाठें इस प्रकार उलझी रहती हैं कि उनको सीधा करना चाहो तो सीधी न हों। अप्रत्याख्यान जन्य वक्रता के लिए मेंढे के सींगों का उदाहरण दिया है। मेंढ़े के सींग घुमावदार होते हैं। प्रत्याख्यान जन्य वक्रता खुरपे के समान है। जरा से ताप के द्वारा उसे सीधा किया जा सकता है। अब हमें देख लेना चाहिये कि हमारी उपयोग की स्थिति कैसी है? उसमें वक्रता कितनी है और किस तरह की है, उसमें कितने घुमाव और कितने मोड़ हैं?

इस वक्रता को निकालने के लिए पहले मृदुता की बड़ी आवश्यकता है। मृदुता के अभाव में ऋजुता नहीं आती। जैसे किसी लोहे की सलाई में वक्रता आ जाये तो उसको ताप देने के उपरान्त जब उसमें थोड़ी मृदुता आ जाती है तब एक दो बार घन उसके ऊपर पटक दिया जाए तो उसमें सीधापन आ जाता है। इसी प्रकार कषायों की वक्रता निकालने के पहले रत्नत्रय धर्म को अंगीकार करके तप करना होगा। तभी ऋजुता आयेगी और आर्जव धर्म फलित होगा। घर बैठे-बैठे उपयोग में ऋजुता लाना संभव नहीं है। सलाई को लुहार के पास ले जाना होगा अर्थात् घर छोड़ना होगा। ऐसे ही तीर्थक्षेत्र पर आकर अपने उपयोग को गुरुओं के चरणों में समर्पित करना होगा और वे जो तप इत्यादि बतायें उसे ग्रहण करके कषायों पर घन का प्रहार करना होगा, तभी उपयोग में सरलता आयेगी।

आपने शुक्लपक्ष में धीरे-धीरे उगते चन्द्रमा को देखा होगा। शुक्लपक्ष में प्रतिपदा के दिन चन्द्रमा की एक कला खुलती है। लेकिन उसे देखना सम्भव नहीं है। दूज के दिन देखने मिले तो मिल सकता है। दूज के चन्द्रमा को कभी-कभी कवि लोग बङ्किम-चन्द्रमा भी कहते हैं। अर्थात् अभी चन्द्रमा में वक्रता है, टेढ़ापन है और जैसे-जैसे चन्द्रमा अपने पक्ष को पूर्ण करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी वक्रता कम होती जाती है, जब पक्ष पूर्ण हो जाता है तब वह बङ्किम चन्द्रमा नहीं बल्कि पूर्ण चन्द्रमा कहलाने लगता है। इसी प्रकार हमारे भीतर जो ग्रन्थियां पड़ी हैं, उन ग्रंथियों का विमोचन करके हम पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। महावीर भगवान का पक्ष अर्थात् उनका आधार लेकर जब हम धीरे-धीरे आगे बढ़ेंगे, तभी पूर्ण सरलता की प्राप्ति होगी। ग्रन्थियों का विमोचन करना अर्थात् निर्ग्रन्थ होना, चारित्र को अङ्गीकार करना पहले अनिवार्य है। बारहभावना में पं. दौलतराम जी कहते हैं कि -

जो भाव मोहतें न्यारे दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे ।
सो धर्म जबै जिय धारै तब ही सुख अचल निहारै ॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी धर्म को धारण करके सभी प्रकार की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग ग्रन्थियों का विमोचन करके ही अचल सुख को पाया जा सकता है। अकेले किताबी ज्ञान से कुछ नहीं होगा।

जीवन की प्रत्येक क्रिया में धर्म का ध्यान रखना होगा। जिसके पास क्षमा धर्म है, वही क्रोध का वातावरण मिलने पर भी शान्त रहेगा। जिसके पास मान कषाय नहीं है वही लोगों के माध्यम से अपनी प्रशंसा सुनकर भी समता-भाव धारण कर सकेगा। यथाजात निर्ग्रन्थ होकर ही कोई जीवन में वास्तविक ऋजुता का दर्शन कर सकता है। किताबों में, कोशों में या मात्र शब्दों के माध्यम से धर्म का दर्शन नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि कुछ सङ्केत मिल सकते हैं। धर्म का दर्शन तो जीवन में धर्म को अङ्गीकार करने पर ही होना या जिन्होंने धर्म को धारण कर लिया है उनके समीप जाने पर ही होगा। बालक अपनी माँ के पास बैठकर अपने हृदय की हर बात बड़ी सरलता से कह देता है उसी प्रकार सरल हृदय वाला साधक जब यथाजात होकर सभी ग्रन्थियाँ खोल देता है और सीधा-सीधा अपने मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर देता है तो उसके जीवन में धर्म का दर्शन होने लगता है। वह स्वयं भी धर्म का दर्शन करने लग जाता है।

माया जब तक रहेगी, ध्यान रखना इस जीवन में और अगले जीवन में भी वह शल्य के समान चुभती रहेगी। मायावी व्यक्ति कभी सुख का अनुभव नहीं कर सकता। जिस समय काँटा चुभ जाता है उस समय तत्काल भले ही दर्द अधिक न हो, लेकिन बाद में जब तक वह भीतर चुभा रहता है तब तक वह आपको चैन नहीं लेने देता। स्थिति ऐसी हो जाती है कि न रोना आता है, न हँसा जाता है, न भागा जाता है और न ही सोया जाता है, कुछ भी वह करने नहीं देता। निरन्तर पीड़ा देता है। ऐसे ही माया कषाय मायावी व्यक्ति के भीतर-भीतर निरन्तर घुटन पैदा करती रहती है।

बंधुओ! अपने उपयोग को साफ-सुथरा और सीधा बनाओ। जीवन में ऐसा अवसर बार-बार आने वाला नहीं है। जैसे नदी बह रही हो, समीप ही साफ-सुथरी शिला पड़ी हो और साफ करने के लिए साबुन इत्यादि भी साथ में हो, फिर भी कोई अपने वस्त्रों को साफ नहीं करना चाहे तो बात कुछ समझ में नहीं आती। कितनी पर्यायें एक-एक करके यूँ ही व्यतीत हो गयीं। अनन्तकाल से आज तक आत्मा कर्ममल से मलिन होती आ रही है। उसे

साफ-सुथरा बनाने का अवसर मिलने पर हमें चूकना नहीं चाहिये। कषायों का विमोचन करना चाहिये। बच्चे के समान जैसा वह बाहर और भीतर से सरल है, उसी प्रकार अपने को बनाना चाहिये। यथाजात का यही अर्थ है कि जैसा उत्पन्न हुआ, वैसा ही भीतर और बाहर निर्विकार होना चाहिये।

यही यथाजात रूप वास्तव में ऋजुता का प्रतीक है। यही एकमात्र व्यग्रता से एकाग्रता की ओर जाने का राजपथ है। इस पथ पर आरूढ़ होने वाले महान् भाग्यशाली हैं। उनके दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है। उनके अनुरूप चर्या करना और भी दुर्लभ है।

'रहे सदा सत्संग उन्हीं का ध्यान उन्हीं का नित्य रहे ।
उन ही जैसी चर्या में यह चित्त सदा अनुरक्त रहे ॥'[१०]

ऐसी भावना तो हमेशा भाते रहना चाहिये। तिर्यञ्च भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके एक देश संयम को धारण करके अपनी-अपनी कषायों की वक्रता को कम कर लेते हैं तो हम मनुष्य होकर संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर यथाजात रूप को धारण क्यों नहीं कर सकते? कर सकते हैं। यथाजात रूप को धारण करने की भावना भी भा सकते हैं। जो उस यथाजात रूप का बार-बार चिन्तन करता रहता है, वह अपने उपयोग की सरलता के माध्यम से नियम से मुक्ति की मञ्जिल की ओर बढ़ता जाता है और एक दिन नियम से मञ्जिल को पा लेता है।

आर्जव धर्म-

१. सर्वार्थसिद्धि १/६/७९७/३२३६
२. छहढाला (छठी ढाल-८)
३. मूकमाटी (महाकाव्य) पृ. १२४-२५
४. छठी ढाल (छठवीं ढाल-४)
५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-मंगलाचरण १
६. तत्वार्थसूत्र ९/२७
७. तत्वार्थवार्तिक १/२७/१२/६५० (एकाग्रवचनं वैयग्र्यनिवृत्यर्थम्)
८. तत्वार्थसूत्र ६/१६
९. छठी ढाल (पाँचवी ढाल-१४)
१०. मेरी-भावना-५

□□

उत्तम शौच

कंखाभावणिवित्तिं, किच्चोवेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टादि परमगुणी, तस्स दुधम्मे हवे सोच्चं॥

□ **जो परम मुनि इच्छाओं को रोककर और वैराग्य रूप विचारा से युक्त होकर आचरण करता है उसको शौच धर्म होता है। (७५)**

जब मैं बैठा था वह समय, सामायिक का था और एक मक्खी अचानक सामने देखने में आयी। उसके पंख थोड़े गीले से लग रहे थे। वह उड़ना चाहती थी पर उसके पंख सहयोग नहीं दे रहे थे। वह अपने शरीर पर भार अनुभव कर रही थी और उस भार के कारण उड़ने की क्षमता होते हुए भी उड़ नहीं पा रही थी। जब कुछ समय के उपरान्त पंख सूख गये तब वह उड़ गयी। मैं सोचता रहा कि वायुयान की रफ्तार जैसी उड़ने की पूरी की पूरी शक्ति ही मानों समाप्त हो गयी। थोड़ी देर के लिए उसे हिलना-डुलना भी मुश्किल हो गया। यही दशा संसारी-प्राणी की है। संसारी-प्राणी ने अपने ऊपर अनावश्यक न जाने कितना भार लाद रखा है और फिर भी आकाश की ऊँचाईयाँ छूना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति ऊपर उठने की उम्मीद को लेकर नीचे बैठा है। स्वर्ग की बात सोच रहा है लेकिन अपने ऊपर लदे हुए बोझ की ओर नहीं देखता जो उसे ऊपर उठने में बाधक साबित हो रहा है।

वह यह नहीं सोच पाता कि क्या मैं यह बोझ उठाकर कहीं ले जा पाऊँगा या नहीं। वह तो अपनी मानसिक कल्पनाओं को साकार रूप देने के प्रयास में अहर्निश मन-वचन और काय की चेष्टाओं में लगा रहता है। अमूर्त स्वभाव वाला होकर भी वह मूर्त सा व्यवहार करता है। यूँ कहना चाहिये कि अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं भारमय बनकर उड़ने में असमर्थ हो रहा है। ऐसी दशा में वह मात्र लुढक सकता है, गिर सकता है और देखा जाए तो निरन्तर गिरता ही आ रहा है। उसका ऊँचाई की ओर बढ़ना तो दूर रहा देखने का साहस भी खो रहा है।

जैसे जब हम अपने कंधों पर या सिर पर भार लिये हुए चलते हैं तो केवल नीचे की ओर ही दृष्टि जाती है। सामने भी ठीक से देख नहीं पाते। आसमान की तरफ देखने की तो बात ही नहीं है। ऐसे ही है संसारी प्राणी

के लिए मोह का बोझा। उसके सिर पर इतना लदा है, कहो कि उसने लाद रखा है कि मोक्ष की बात करना ही मुश्किल हो गया है।

विचित्रता तो ये है कि इतना बोझा कन्धों पर होने के बाद भी वह एक दीर्घ श्वांस लेकर कुछ आराम जैसा अनुभव करने लगता है और अपने बोझ को पूरी तरह नीचे रखने की भावना तक नहीं करता। बल्कि उस बोझ को लेकर ही उससे मुक्त हुए बिना ही मोक्ष तक पहुँचने की कल्पना करता है। भगवान के समाने जाकर, गुरुओं के समीप जाकर अपना दु:ख व्यक्त करता है कि हमें मार्गदर्शन की आवश्यकता है। आप दीनदयाल हैं। महती करुणा के धारक हैं। दया-सिन्धु, दयापालक हैं। करुणा के आकार हैं, करुणाकार हैं। आपके बिना कौन हमारा मार्ग प्रदर्शित कर सकता है?

उसके ऐसे दीनता भरे शब्दों को सुनकर और आँखों से अश्रुधारा बहते देखकर सन्त लोग विस्मय और दु:ख का अनुभव करते हैं। वे सोचते हैं कि कैसी यह संसार की रीत है कि परिग्रह के बोझ को निरन्तर इकट्ठा करके स्वयं दीन-हीन होता हुआ यह संसारी प्राणी संसार से मुक्त नहीं हो पाता।

'शुचेर्भाव: शौच्यम्।' शुचिता अर्थात् पवित्रता का भाव ही शौचधर्म है। अशुचि भाव का विमोचन किये बिना उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। शुचिता क्या है और अशुचिता क्या है? यही बतलाने के लिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में एक कारिका के माध्यम से सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों का वर्णन करते हुए कहा है कि-

स्वभावतो ऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥[१]

शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है, उसमें पवित्रता यदि आती है तो रत्नत्रय से आती है। रत्नत्रय ही पवित्र है। इसलिए रत्नत्रय रूपी गुणों के प्रति प्रीतिभाव रखना चाहिये। रत्नत्रय को धारण करने वाले शरीर के प्रति विचिकित्सा नहीं करना चाहिये।

चिकित्सा का अर्थ ग्लानि से है। या कहें कि एक प्रकार से प्रतिकार का भाव ही चिकित्सा है और विचिकित्सा का अर्थ विशेष रूप से चिकित्सा या ग्लानि लिया गया है। विचिकित्सा का अभाव होना ही 'निर्विचिकित्सा-अङ्ग' है। जीवन में शुचिता इसी अङ्ग के पालन करने से आती है। शरीर तो मन का पिटारा है, घृणास्पद भी है। हमारा ध्यान शरीर की ओर तो जाता है लेकिन उसकी वास्तविक दशा की ओर नहीं जाता। इसी कारण शरीर के प्रति राग का भाव या घृणा का भाव आ जाता है। वासना की ओट में शरीर

की उपासना अनादिकाल से यह संसारी प्राणी कहता आ रहा है। लेकिन उसी शरीर में बैठे हुए आत्मा की उपासना करने की ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती।

विषयों में सुख मानकर यह जीव अपनी आत्मा की उपासना को भूल रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में कहा है कि-

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥[२]

अर्थात् इन्द्र और चक्रवर्ती पुण्य के फलस्वरूप भोगों के द्वारा देहादि की पुष्टि करते हैं और भोगों में लीन रहते हुए सुखी जान पड़ते हैं, लेकिन वास्तविक सुख वह नहीं है।

लोभ के वशीभूत हुआ संसारी प्राणी विषय रूपी वासना में लिप्त होने के कारण आत्मिक सुख से वञ्चित हो रहा है। चार कषायों के द्वारा चार गतियों में निरन्तर भटक रहा है। नरकों में विशेष रूप से क्रोध के साथ, तिर्यञ्चों में माया के साथ, मनुष्यों में मान के साथ और देवों में लोभ के साथ यह जीव उत्पन्न होता है। वैचित्र्य तो यह है कि और लोभी बनकर आज यह संसारी प्राणी देव बनना चाहता है। एक तरह से और लोभी ही होना चाहता है। देखा जाए तो स्वर्ग में भी सागरोपम आयु वाले इन्द्र और अहमिन्द्र को भी विषय कषाय के अभाव में होने वाली आत्मानुभूति का अनुभव क्षण भर को भी नहीं होता। भले ही उन्हें सुखानुभूति मनुष्यों की अपेक्षा अधिक रही आवे।

प्रत्येक असंयमी संसारी प्राणी की स्थिति जोंक की तरह है। जैसे जोंक किसी जानवर या गाय/भैंस के थनों (स्तनों) के ऊपर चिपक जाता है और वह सड़े-गले खून को ही चूसता रहता है। 'वैसे ही स्वर्ग के सुखों की भी ऐसी ही उपमा दी गयी है। आचार्यों ने हमारे उपचार के भिन्न-भिन्न उपाय करते हुए भिन्न-भिन्न उपदेश दिये हैं। किसी भी तरह लोभ का विरेचन हो जाये, यही मुख्य दृष्टिकोण रहता है लेकिन इतने पर भी ऐसा उदाहरण सुनकर भी संसारी प्राणी लोभ का विरेचन करने के लिए तैयार न हो, तो उसका कल्याण कौन कर सकेगा? जिस लोभ को छोड़ना था, उसी लोभ के वशीभूत हुआ आज संसारी-प्राणी अपनी ख्याति, पूजा, लाभ और यश-कीर्ति चाह रहा है।

स्वर्गों में सम्यग्दृष्टि के लिए भी ऐसी उपमा देने के पीछे आशय यही है कि विषय भोगों की लालसा यदि मन में है तो वह मुक्ति में बाधक है।

आज प्रगति का युग है, विज्ञान का युग है। लेकिन देखा जाये तो दुर्गति का भी युग है। क्योंकि आज आत्मा में निरन्तर कलुषता आती जा रही है। लोभ-लालसा दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। जितने सुविधा के साधन जुटाये जा रहे हैं, उतना ही व्यक्ति में तृष्णा और असन्तोष बढ़ रहा है। कीचड़ के माध्यम से कीचड़ धोना सम्भव नहीं है। कीचड़ को धोने के लिए तो वर्षा होनी चाहिए। पवित्र-जल की वर्षा से ही पवित्रता आयेगी।

समसंतोसजलेणं, य जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं ।
भोयणगिद्धिविहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं ।।[५]

निर्मल शौच धर्म उसे ही होता है, जो समता और संतोष रूपी जल के द्वारा अपने तीव्र लोभ रूपी मल के पुञ्ज को धोता है और भोजनादि अन्य पदार्थों में अत्यन्त आसक्त नहीं होता। स्वर्गों में देव पूरी तरह विषय भोगों का परित्याग तो नहीं कर सकते जैसा कि मनुष्य जीवन में कर पाना सम्भव है। लेकिन वे देव भी जहाँ-जहाँ भगवान के पंचकल्याणक होते हैं वहाँ-वहाँ अवश्य जाते हैं और परिवार सहित विषय-भोग को गौण करके उन महान् आत्माओं की सेवा, आराधना करके अपने आत्मा स्वरूप की ओर देखने का प्रयास करते हैं।

भगवान की वीतराग-छवि और वीतराग स्वरूप की महिमा देखकर वे मन ही मन विचार भी करते हैं कि हे भगवन्! आपकी वीतरागता का प्रभाव हमारे ऊपर ऐसा पड़े कि हमारा रागभाव पूरा का पूरा समाप्त हो जाए। आपकी वीतराग छवि से समत्व की ऐसी वर्षा हो कि हम भी थोड़ी देर के लिए शान्ति का अनुभव कर सकें और राग की तपन से बच सकें। यदि देवगति में रहकर देव लोग इस प्रकार की भावना कर सकते हैं तो आप लोग तो देवों के इन्द्र से भी बढ़कर हो। क्योंकि आप लोगों के लिए तो उस मनुष्य काया की प्राप्ति हुई है जिसे पाने के लिए देव लोग भी तरसते हैं। आपकी यह मनुष्य काया की उपलब्धि कम नहीं है, क्योंकि यह मुक्ति का सोपान बन सकती है। लेकिन यह उसे ही सम्भव है जो विषय-भोगों से विराम ले सकें। जब तक हम विषय-भोगों से विराम नहीं लेंगे तब तक आत्मा का साक्षात् दर्शन सम्भव नहीं है। पवित्र-आत्मा का दर्शन विषय-भोगों के विमोचन के उपरान्त ही सम्भव है।

यदि कषायों का पूरी तरह विमोचन नहीं होता तो कम से कम उनका उपमशन तो किया ही जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र जैसे महान आचार्य धन्य हैं, जिन्होंने इस भौतिक युग में रहते हुए भी जल से भिन्न

कमल के समान स्वयं को संसार से निर्लिप्त रखा और विषय-कषाय से बचते हुए अपनी आत्मा की आराधना की। विषय कषाय से बचते हुए वीतराग प्रभु के द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने का प्रयास किया। रात-दिन अप्रमत्त रहकर, जागृत रहकर उस जागृति के प्रकाश में अपने खोये हुए, भूले हुए आत्मतत्व को ढूँढ़ने का प्रयास किया।

इतना ही नहीं ऐसे महान् आचार्यों ने हम जैसे मोही, रागी, द्वेषी, लोभी और अज्ञानी संसारी प्राणियों के लिए, जो कि अन्धकार में भटक रहे हैं, अपने ज्ञान के आलोक से पथ प्रकाशित करके हमारी आँखें खोलने का प्रयास भी किया है-

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरून्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

ज्ञानरूपी अञ्जन-शलाका से हमारी आँखों को खोलकर अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश कर दिया है। ऐसे परम गुरुओं को हमारा नमस्कार होवे। उनके अपार उपकार का स्मरण करना चाहिये। ऐसे महान् आचार्यों के द्वारा ही हजारों-लाखों वर्षों से चली आ रहीं अहिंसा-धर्म की परम्परा आज भी जीवन्त है। वस्तुतः ध्वनियाँ क्षणिक हैं, लेकिन जो भीतरी आवाज है, जो दिव्यध्वनि है, जो जिनवाणी है, वही शाश्वत और उपकारी है। एक बार यदि हम अपना उपयोग उस ओर लगा दें तो बाह्य-ध्वनियों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस भीतरी ध्वनि के सामने दुनिया की सारी बाहरी शक्ति फीकी पड़ जाती है। जैसे प्रभाकर के सामने जुगनू का प्रकाश फीका है, कार्यकारी नहीं है, इस प्रकार उत्तम शौच का पालन करने वाले मुनियों के लिए बाह्य-सामग्री कार्यकारी मालूम नहीं पड़ती और वे निरन्तर उसका विमोचन करते रहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार का मंगलाचरण करते हुए कहा है कि-

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं ।।[६]

हे भव्यजीव! मैं शाश्वत, अचल और समस्त उपमाओं से रहित ऐसी पञ्चमगति को प्राप्त सब सिद्धों को नमस्कार करके श्रुत-केवली भगवान के द्वारा कहे गये समयप्राभृत ग्रन्थ को कहूँगा। उपनिषदों में शुद्ध तत्व का वर्णन करते हुए जो बात नहीं लिखी गयी, वह आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने लिख दी कि एक सिद्ध भगवान को नहीं, सारे सिद्ध भगवानों को प्रणाम करके

ग्रन्थ का प्रारम्भ करता हूँ। सिद्ध एक ही नहीं है, अनन्त हैं। सभी में, प्रत्येक जीवात्मा में सिद्धत्व की शक्ति विद्यमान है। आचार्य महाराज ने भीतर बैठी इसी शुद्धात्मा की शक्ति को दिखाने का प्रयास किया है और कहा है कि यदि थोड़ा-थोड़ा भी, धीरे-धीरे भी लोभ का मल कम करके भीतर झाँकने का प्रयास करोगे तो, जैसे दूध में घृत के दर्शन होते हैं, सुगन्धी का पान करते हैं, रस का अनुभव आता है, ऐसे ही शुद्धात्मा का दर्शन, पान और अनुभवन सम्भव है।

आप दूध को तपाकर मावा बनाते हैं। उसे कहीं-कहीं खोवा या खोया भी कहते हैं। वस्तुत: वह खोया ही है। दूध को 'खोया' तभी मिला खोया। (हँसी) यूँ कहो कि जो खो गया था, वह मिल गया। हमारा आत्म-तत्व मानों खो गया है और कषायों के नीचे दब गया है यदि हम लोभ को खो दें, तो हमारा खोया हुआ आत्म-तत्व हमें मिल जायेगा। तब खोया मिल जायेगा। लोभ की स्थिति बड़ी जटिल है। इसके माध्यम से ही सभी कषायों की सेना आती है। आचार्यों ने लिखा है कि क्रोध, मान, माया और लोभ ये सभी क्रम-क्रम से उपशम या क्षय को प्राप्त होती हैं। सबसे अन्त में लोभ जाता है। लोभ की पकड़ भीतर बहुत गहरी है। इस लोभ के पूरी तरह क्षय होते ही वीतरागता आने में और भगवान बनने में देर नहीं लगती।

मन में यह जागृति आ जाये कि - 'कि जानूँ कि मैं कौन हूँ' तो सारी सांसारिक लोभ, लिप्सा समाप्त होने लग जाती है। भीतर प्रज्ज्वलित होने वाली आत्म-ज्ञान की ज्योति में अपने स्वभाव की ओर दृष्टि जाने लगती है। हमें ज्ञात हो जाता है कि भले ही मेरी आत्मा के साथ कर्म एकमेक हुए के समान हों और वह शरीरादि बाह्य सामग्री नोकर्म के रूप में मुझे मिली हो। रागद्वेषादि भाव मेरे साथ मिलजुल गये हों। लेकिन इन सभी कर्म, नोकर्म और भाव-कर्म से मैं भिन्न हूँ। वास्तव में, बाहरी सम्बन्धों में अपने को मुक्त कर लेने के उपरान्त हमारी आत्मा की दशा ऐसी हो जाती है कि फिर बाह्य वस्तुओं को पहचानना भी मुश्किल सा लगने लगता है। एक निर्मोही की दृष्टि में बाह्य पदार्थों की जानकारी पाने के लिए उत्सुकता शेष नहीं रह जाती।

संसारी प्राणियों में बहुत सारी विचित्रताएँ देखने में आती हैं। मनुष्य की विचित्रता यह है कि वह सब कुछ जानते हुए भी अपने जीवन में कल्याण की बात नहीं सोचता मैं पूछता हूँ आप सभी लोगों से कि आपने कभी

परिग्रह को पाप समझा या नहीं। आपने वस्तुओं के प्रति अपने मूर्छा भाव को पाप समझा है या नहीं? आप सभी यह मानते हैं कि हिंसा को हमारे यहाँ अच्छा नहीं माना गया, झूठ भी पाप है। चोरी करना भी हमारे यहाँ ठीक नहीं बताया। कुशील की तो बात ही नहीं है। इस तरह आप चारों पापों से दूर रहने का दावा करते हैं किन्तु जो पापों का सिरमौर है, जो परम्परा से चला जा रहा है परिग्रह, उसे आप पाप नहीं मानते।

बात यह है कि उसके माध्यम से सारे के सारे कार्य करके हम अपने आपको धर्म की मूर्ति बताने में सफल हो जाते हैं। भगवान का निर्माण करा सकते हैं, मन्दिर बनवा सकते हैं चार लोगों के बीच अपने को बड़ा बता सकते हैं। इस तरह आपने परिग्रह को पाप का बाप कहा अवश्य है, लेकिन माना नहीं है। बल्कि परिग्रह को ही सब कुछ मान लिया है। सोचते हैं कि यह जब तक है तभी तक हम जीवित हैं या कि तभी तक घर में दीपक जल रहा है। हमें लगता है कि धन के बिना धर्म भी नहीं चल सकता। देखने में भी आता है कि अच्छा मञ्च बनाया है, बड़ा पण्डाल लगाया है तभी तो घण्टों बैठकर प्रवचन सुन पा रहे हैं।

लेकिन ध्यान रखना धर्म की प्रभावना के लिए धन का उतना महत्व नहीं है जितना कि धन को छोड़ने का महत्व है। यह भगवान महावीर का धर्म है जिसमें कहा गया है कि जब तक धन की आकाङ्क्षा है, धन की महिमा गायी जा रही है; तब तक धर्म की बात प्रारम्भ ही नहीं हुई है। किसी आँग्ल कवि (इंगलिश पोयट) ने कहा है कि सुई के छेद से ऊँट पार होना सम्भव है, लेकिन धन के संग्रह की आकाङ्क्षा रखने वाले व्यक्ति को मुक्ति सम्भव नहीं है।

हमारे यहाँ धर्म के अर्जन की बात कही गयी है, धन के अर्जन की बात नहीं कही गयी; बल्कि धन के विसर्जन की बात कही गयी है। हम इस मनुष्य पर्याय की दुर्लभता को समझें और यह भी समझें कि हम इस दुर्लभ वस्तु को किस तरह कौड़ियों के दाम बेच रहे हैं। किस तरह धन के पीछे हम अपना मूल्यवान आत्म-धन नष्ट कर रहे हैं। जैसे कोई हमेशा अन्धकार में जीता रहे तो उसे कभी दिन का भान नहीं हो पाता, उसे पूर्व और पश्चिम दिशा का ज्ञान भी नहीं हो पाता। ऐसे ही जो व्यक्ति हमेशा धन की आकाङ्क्षा में और विषय भोगों की लालसा में व्यस्त रहता है उसे यह पहचान ही नहीं हो पाती कि भगवान वीतराग कैसे हैं? उन्होंने किस तरह परिग्रह का विमोचन

करके तथा लोभ का त्याग करके पवित्रता, वीतरागता पायी है। ध्यान रखना वीतरागता कभी धन के माध्यम से या लोभ के माध्यम से नहीं मिलती।

परितः समन्तात् गृह्णाति आत्मानम् इति परिग्रहः- जो आत्मा को चारों ओर से अपनी चपेट में ले, वह परिग्रह है। लोग कहते हैं ग्रह दशा ठीक नहीं चल रही, तो मैं सोचता हूँ कि परिग्रह से बड़ा भी कोई ग्रह है, जो हमें ग्रसित करें? परिग्रह रूपी ग्रह ही हमें ग्रसित कर रहा है। इसी के कारण हम परमार्थ को भूल रहे हैं और जीवन के वास्तविक सुख को भूलकर इन्द्रिय सुखों को ही सब कुछ मान रहे हैं। जिसके पास जितना परिग्रह है या आता जा रहा है, वह मान रहा है कि परिग्रह (बाह्य पदार्थों का संग्रह) हमारे हाथ में है और हम उसके मालिक हैं। लेकिन ध्यान रखना परिग्रह आपके वश में नहीं है बल्कि आप ही परिग्रह के वशीभूत हैं, परिग्रह ने ही आपको सब ओर से घेर रखा है। तिजोरी के अन्दर धन-सम्पदा बन्द है और आप पहरेदार की तरह पहरा दे रहे हैं और सेठ जी कहला रहे हैं। क्या पहरा देने वाला सेठ जी हो सकता है? वह तो पहरेदार ही कहलायेगा वह मालिक नहीं नौकर ही कहलायेगा। धन संपत्ति मालिक बनी हुई है और आराम से तिजोरी में राज्य कर रही है, आप उसी की आरती उतार रहे हैं और स्वयं को धन्य मान रहे हैं। दीपावली के दिन भगवान महावीर को मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति हुई थी, लेकिन आज लोग परिग्रह रूपी धन-संपत्ति को लक्ष्मी मानकर उसी की पूजा कर रहे हैं, जो अज्ञानता का ही प्रतीक है।

आचार्यों ने परिग्रह संज्ञा को संसार का कारण बताया है और संसारी प्राणी निरन्तर इसी परिग्रह के पीछे अपने स्वर्णिम मानव जीवन को गँवा रहा है। जिस आत्मा में परमात्मा बनने की, पतित से पावन बनने की क्षमता है वही आत्मा परिग्रह के माध्यम में, लोभ-लिप्सा के माध्यम से संसार में रुल रहा है। एक बार यदि आप अपने भीतरी आत्म-वैभव का दर्शन कर लें तो आपको ज्ञात हो जायेगा कि अविनश्वर सुख-शांति का वैभव तो हमारे भीतर ही है। अनन्तगुणों का भण्डार हमारे भीतर ही है और हम बाहर हाथ पसार रहे हैं।

कम से कम आज आप ऐसा सङ्कल्प अवश्य लेकर जाइये कि हम अनन्त-काल से चले आ रहे इस अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी अनन्त लोभ का विमोचन अवश्य करेंगे और अपने पवित्र स्वरूप की ओर दृष्टिपात करेंगे। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि-

अरसमरुवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण आलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥[7]

जो रस रहित है, जो रूप-रहित है, जिसका कोई गन्ध नहीं है, जो इन्द्रिय गोचर नहीं है, चेतना-गुण से युक्त है, शब्द रहित है, किसी बाहरी चिन्ह या इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता और जिसका आकार बताया नहीं जा सकता, ऐसा यह जीव है आत्मतत्व है।

जिन आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र और आचार्य पूज्यपाद जैसे महान् निष्परिग्रही आत्माओं के द्वारा इस आत्म स्वरूप की उपासना की गयी है, उन्हीं निष्परिग्रही आत्माओं के हम भी उपासक हैं, होना भी चाहिये। अभी जैसे आप स्वयं ही अनुभव कर रहे हैं कि देह रूपी परिग्रह तक का ध्यान भूलकर किस तरह तन्मय होकर धर्मलाभ लिया जा सकता है। भाई! अपने जीवन को इसी प्रकार लोभ-मल से बचाकर पवित्र होने का, शौच-धर्म प्राप्त करने का उपाय करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

आज सीप का नहीं, मोती का, आज दीप का नहीं, ज्योति का, स्वागत करना है और अपने जीवन को, आदर्श भास्वत करना है। संसारी प्राणी इस रहस्य को नहीं जान पा रहा है कि शुचि क्या है और अशुचि क्या है? इन दोनों के बीच भेद क्या है? यह क्रम अनादि से चला जा रहा है, लेकिन संसारी प्राणी जैसे इस बात से अनभिज्ञ हैं। जहाँ पर कमल उगता है वही देखा जाए तो नीचे कीचड़ भी देखने में आता है। सीप में से मोती निकलता है और दीप में ज्योति जलती है, प्रकाश होता है। मोती मूल्यवान है तथा प्रकाश की महत्ता है। भगवान के चरणों में चक्रवर्ती जैसे महापुरुष अञ्जुलि भर-भर कर मोती ही चढ़ाते हैं। कीचड़ में उगने वाला कमल भगवान के चरणों में बढ़ाया जाता है। कीचड़ को कोई छूना भी नहीं चाहता। किन्तु आज उस कमल का, उस ज्योति का और मोती का अनादर किया जा रहा है और अशुचि रूप कीचड़ में ही जीवन लथपथ हो रहा है।

संसारी प्राणी मोती को छोड़कर सीप में ही चाँदी की कल्पना करके फँसता जा रहा है। इसी प्रकार अशुचि का भण्डार यह शरीर भी है। हम शरीर को ही आदर देते जा रहे हैं। अस्सी साल का वृद्ध भी दिन-भर में कम से कम एक बार दर्पण देखने का अवश्य इच्छुक रहता है। किन्तु आत्म-तत्व देखने के लिए आज तक किसी ने विचार नहीं किया। यह कोई नहीं सोचता कि ऐसा कौन सा दर्पण खरीद लूँ जिसमें मैं अपने आपका वास्तविक रूप देख सकूँ। आकर्षण का केन्द्र शरीर न होकर उसमें रहने वाली आत्मा ही आकर्षण का केन्द्र हो जाये। लेकिन संसार की रीत बड़ी विपरीत है। बहुत कम लोगों की दृष्टि इस ओर है।

'गगन का प्यार, धरा से हो नहीं सकता और मदन का प्यार कभी जरा से हो नहीं सकता[8]। यह भी एक नियति है, सत्य है कि सृजन का प्यार कभी सुरा से हो नहीं सकता- विधवा को कभी अङ्गराग रुचता नहीं, कभी सधवा को संग त्याग रुचता नहीं, कभी संसार से विपरीत रीत, विरलों की ही होती है कि भगवाँ को कभी भी राग दाग रुचता नहीं[9]?

मैं मानता हूँ अशुचिता से अपने आपके जीवन को ऊपर उठाना, हँसी-खेल नहीं है। लेकिन खेल नहीं होते हुए भी उस ओर दृष्टिपात तो अवश्य करना चाहिये। ऐसे-ऐसे व्यक्ति देखने में आते हैं कि खेल कामेण्ट्री सुनने में दिन-रात लगा देते हैं और भूख-प्यास सब भूल जाते हैं। शरीर की ओर दृष्टि नहीं जाती। यह एक भीतरी लगन की बात है। जैसे खेल नहीं खेलते हुए भी खेल के प्रति आस्था, आदर और बहुमान होने के कारण यह व्यवहार हो जाता है। उसी प्रकार यदि आज हम स्वयं आत्मत्व का दर्शन नहीं भी कर पाते, उसे नहीं पहचानते तो कोई बात नहीं; किन्तु जिन्होंने उस आत्म-तत्व को पहचाना है उनके प्रति आस्था, आदर और बहुमान रखकर उनकी बात तो कम से कम सुनना ही चाहिये।

माँ उस समय चिन्तित हो जाती है, जब लड़का अच्छा खाना नहीं खाता और खेलकूँद के लिए भाग जाता है। उसी प्रकार सारे विश्व का हित चाहने वाले आचार्यों को भीतर ही भीतर उस समय चिन्ता और दु:ख होता है, जब ससांरी प्राणी अपने उस स्वभाव से जिसमें वास्तविक आनन्द है; जो वास्तविक सम्पदा है, उससे एक समय के लिए भी परिचित नहीं हुआ। आचार्य समन्तभद्र महाराज जो दर्शन (फिलासफी) के प्रति गहरी रुचि और आस्था रखते थे और जिनकी सिंह गर्जना के सामने हाथियों के समान प्रवादियों का मद (अहङ्कार) गल जाता था। वे कहते हैं संसारी प्राणी ने आज तक पवित्रता का आदर नहीं किया है और अपवित्रता को ही गले लगाया है। यही कारण है कि उसे आत्म-तत्व का परिचय नहीं हुआ। अशुचिमय शरीर में बैठे हुए आत्मा का- जो ज्ञानदर्शन लक्षण वाला है, दर्शन नहीं हुआ।

कीचड़ के संयोग से लोहा जङ्ग खा जाता है लेकिन स्वर्ण, कीचड़ का संयोग पाकर भी अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता। ऐसे ही शरीर के साथ रहकर भी आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन गुण को नहीं छोड़ता। हाँ, इतना अवश्य है कि स्वर्ण-पाषाण की भांति हमारा आत्मा अभी अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाया है। जैसे स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण है और उसे विधिवत्

निकाला जाये तो निकल सकता है, उसी प्रकार आत्म-तत्व को कर्म-मल के बीच से निकालना चाहें तो निकाला जा सकता है। वास्तविक मल तो यही कर्म-मल है जो अनादि काल से आत्मा के साथ चिपका हुआ है और आत्मा में विकार उत्पन्न करता है।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये आत्मा की विभिन्न दशाएँ हैं। इनमें से अपनी परमात्म-दशा को विधिवत् निकाल लेना ही सच्चा पुरुषार्थ है और जो ऐसा करता है वह फिर शरीर को महत्व नहीं देता। बल्कि आत्मा को बचाकर पवित्र बनाने का प्रयास करने में जुट जाता है। शरीर का इतना ही महत्व है कि उसके माध्यम से आत्म-तत्व को प्राप्त करना है यह ज्ञानी जानता है और शरीर को सावधानी पूर्वक सुरक्षित रखकर आत्म-तत्व को प्राप्त करने में लग जाता है। हमें जानना चाहिये कि आत्म-तत्व के द्वारा ही शरीर को महत्व मिलता है अन्यथा उसे कोई नहीं चाहता। वह अशुचिमय है और आत्मा से पृथक् है। हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी अशुचिता को समझें और उसके प्रति आसक्ति को छोड़कर रत्नत्रय से पवित्र आत्मा के प्रति अनुरक्त हों।

वीतराग यथाजात दिगम्बर रूप ही पवित्र है, क्योंकि इसी के माध्यम से आत्मा चार प्रकार की आराधना करके मुक्ति को प्राप्त होती है और पवित्र होती है। वस्तुत: पवित्रता शरीराश्रित नहीं है लेकिन यदि आत्मा शरीर के साथ रहकर भी धर्म को अङ्गीकार कर लेती है तो शरीर भी पवित्र माना जाने लगता है, क्योंकि तब उसमें राग नहीं है और उसमें द्वेष भी नहीं है। वह सप्त-धातु से युक्त होते हुए भी पूज्य हो जाता है। शरीर के साथ जो धर्म के द्वारा संस्कारित आत्मा है, उसका मूल्य है और उस संस्कारित आत्मा के कारण ही शरीर का भी मूल्य बढ़ जाता है।

जैसे कोई व्यक्ति धागे को गले में नहीं लटकाता किन्तु फूलों की माला के साथ या मोती की माला के साथ वह धागा भी गले में शोभा पाता है और फूल सूख जाने पर फिर कोई उसे धारण नहीं करता। इसी प्रकार यदि धर्म साथ है तो शरीर भी शोभा पाता है। धर्म के अभाव में जीवन शोभा नहीं पाता। उसे कोई मूल्य नहीं देता तथा उसे कोई पूज्य भी नहीं मानता। हमारे यहाँ जड़ का आदर नहीं किया गया। आदर तो चेतना का ही किया जाता है। जो इस चेतना का आदर करता है, उसका परिचय प्राप्त कर लेता है, वही वास्तविक आनन्द को प्राप्त कर लेता है। वही तीन लोक में पूज्यता को प्राप्त होता है।

जैसे कोई अन्धा हो या आँख मूँद कर बैठा हो तो उसे प्रकाश का दर्शन नहीं होता और वह सोच लेता है कि प्रकाश कोई वस्तु नहीं है अन्धकार ही अन्धकार है। उसी प्रकार संसारी प्राणी लोभ के कारण अन्ध हुआ है उसे आत्म-तत्व प्रकाशित नहीं हो रहा है। उसे रत्नत्रय का दर्शन नहीं हो पा रहा है और उसका जीवन अन्धकारमय हो रहा है। वह सोचता है कि जीवन में आलोक सम्भव ही नहीं है। लेकिन जो आँख खोल लेता है, लोभ को हटा देता है, विकारों पर विजय पा लेता है; उसे प्रकाश दिखायी पड़ने लग जाता है और उसका जीवन आलोकित हो जाता है। शरीर के प्रति रागभाव हटते ही शरीर में चमकने वाला आत्म-तत्व का प्रकाश दिखायी पड़ने लगता है कि वह आत्मा उस औदारिक अशुचिमय शरीर से युक्त होकर परम-औदारिक शरीर को प्राप्त कर लेता है। परम पावन हो जाता है।

बन्धुओं! आज अशुचि का नहीं शुचिता का आदर करना है। सीप का नहीं मोती का आदर करना है। दीप का नहीं ज्योति का स्वागत करना है और अपने जीवन को प्रकाशित करना है। ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने वाले के लिए समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है कि वह शरीर के बारे में ऐसा विचार करें-

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि वीभत्सं ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥[१०]

ब्रह्मचारी वह है, जो शरीर को मल का बीज मानता है, मल की उत्पत्ति का स्थान मानता है और दुर्गन्ध तथा घृणास्पद चीजों का ढेर मानकर उससे राग नहीं करता। उससे विरक्त रहकर अपने ब्रह्म अर्थात् आत्म-तत्व का ही अवलोकन करने में आनन्द मानता है।

जिस शरीर को शुद्ध बनाने के लिए, सुगन्धित बनाने के लिए हम नाना प्रकार के उपाय करते हैं, वह शरीर कैसा है उसका विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि

'केशर चन्दन पुष्प सुगन्धित वस्तु देख सारी ।
देह परसतें होय अपावन निशदिन मलझारी' ॥[११]

केशर लगाओ, चाहे चन्दन छिड़को या सुगन्धित फूलों की माला पहनाओ, यह सब करने के उपरान्त भी शरीर अपावन ही बना रहता है। ये सभी चीजें शरीर का सम्पर्क पाकर अपावन हो जाती है। ऐसा यह शरीर है। शरीर की अशुचिता के बारे में ऐसा विचार किया जाए तो शरीर को सजाने-सँवारने के प्रति लोभ कम होगा और आत्म-तत्व की ओर रुचि जागृत होगी।

शरीर की अशुचिता और आत्मा की पवित्रता का चिन्तन करना ही उपादेय है। आप शरीर की सुन्दरता और गठन देखकर मुग्ध हो जाते हैं और कह देते हैं कि क्या पर्सनालिटी है? लेकिन वास्तव में देखा जाए तो व्यक्तित्व, शरीर की सुन्दरता या सुडौलता से नहीं बनता, वह तो भीतरी आत्मा के संस्कारों की पवित्रता से बनता है। अशुचिता हमारे भावों में हो रही है उसे तो हम नहीं देख रहे हैं और शरीर की शुचिता में लगे हैं। हमें भावों में शुचिता लानी चाहिये। भावों में निर्मलता लानी चाहिये। भावों में मलिनता का कारण शरीर के प्रति बहुत आसक्त होना ही है। इसी की सोहबत में पड़कर आत्मा निरन्तर मलिन होती जा रही है। आत्मा की सुगन्धि खोती जा रही है और आत्मा निरन्तर वैभाविक परिणमन का ही अनुभव कर रही है।

सम्यग्दृष्टि शरीर को गौण करके आत्मा के रत्नत्रय रूप गुणों को मुख्य बनाता है। वह जानता है कि जब तक शरीर के प्रति आसक्ति बनी रहेगी आत्मा का दर्शन उपलब्ध नहीं होगा। इसलिए शरीर के सम्बन्धों को, शरीर के रूप लावण्य को, शरीर के आश्रित होने वाले जाति और कुल के अभिमान को, लोभ को गौण करके एक बार आत्मा के निर्मल दर्पण में आँकने का प्रयास करना ही श्रेयस्कर है। सिद्ध परमेष्ठी तो पारदर्शी काँच के समान हैं और अर्हन्त भगवान काँच के पीछे चाँदी का पालिश लगे हुए दर्पण के समान हैं। लेकिन यह संसारी प्राणी तो दर्प का पुतला बना हुआ है। लोभ का पुतला बना हुआ है। शरीर के प्रति जो दर्प (अभिमान) है उसे छोड़ने के उपरान्त ही दर्पण के समान निर्मल अर्हन्त पद की प्राप्ति सम्भव है।

दर्पण स्वयं कह रहा है कि मुझमें दर्प न अर्थात् अहङ्कार नहीं रहा। सब उज्जवल हो गया। जैसा है वैसा दिखायी पड़ने लगा। बन्धुओं! शरीरवान् होना तो संसारी होना है। शरीर से रहित अवस्था ही मुक्ति की अवस्था है। शरीर से रहित अवस्था ही वास्तव में पवित्र अवस्था है। अशरीरी सिद्ध परमात्मा ही वास्तव में परम पवित्रात्मा है।

ज्ञानशरीरी त्रिविधकर्मफल वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते है निकल अमल परमातम भोगें शर्म अनन्ता ॥[१२]

ज्ञान ही जिनका शरीर है, जो तीनों प्रकार के कर्म-मल-द्रव्य कर्म, भावकर्म और नोकर्म अर्थात् शरीर रूपी मल से रहित हैं; ऐसे सिद्ध परमात्मा ही अत्यन्त निर्मल हैं और अनन्तसुख का उपभोग करते हैं। हमें भी आगे आकर अपने सिद्ध स्वरूप को, आत्मा की निर्मलता को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये।

शौचधर्म-

१. रत्नकरण्डक. श्रावकाचार-१३

२. प्रवचनसार-१७३/१२९

३. (प्रवचनसार गाथा ७३ टीका जयसेनाचार्य) यत्परमातिशयतृप्तिसमुत्पादकं विषयतृष्णाविच्छित्तिकारकं च स्वाभाविक सुखं तदलभमाना दुष्टशोणिते जलयूका इवासक्ताः सुखाभासेन देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति।

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-३२७

५. कातन्त्ररूपमाला-(मंगलाचरण-५)

६. समयसार- ४१

७. नियमसार- ४६

८. मूकमाटी (महाकाव्य) पृ. ३०७

९. मूकमाटी (महाकाव्य) पृ. ३५३-५४

१०. रत्नकरण्डक श्रावकाचार १४३

११. मङ्गतरायकृत बारहभावना १४

१२. छहढाला (तीसरी ढाल ६)

□□

उत्तम सत्य

परसंतावयकारण, वयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु, धम्मो हवे सच्चं॥

□ **जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुँचाने वाले वचनों को छोड़कर अपने और दूसरे के हित करने वाले वचन कहता है, उसके चौथा सत्य धर्म होता है। (७४)**

आज 'उत्तम-सत्य' के बारे में समझना है। पिता जी बड़े हैं या पुत्र बड़ा है। पति बड़े हैं कि पत्नी बड़ी है? नाती बड़ा है या दादाजी बड़े हैं? तब लौकिक-व्यवहार में कहने में आता है कि पुत्र छोटा है और पिता जी बड़े हैं। पत्नी छोटी है और पति बड़े हैं। नाती छोटा है दादाजी बड़े हैं। यह सब सापेक्ष सत्य है। चूँकि जिस समय पुत्र हुआ उस समय पिता की उम्र पच्चीस-तीस वर्ष होगी इसलिए पुत्र को छोटा कह दिया। लेकिन देखा जाए तो जिस समय पुत्र का जन्म हुआ, उसी समय पिता का भी जन्म हुआ। उससे पहले उस व्यक्ति को कोई पिता नहीं कहता था। वह पुत्र होते ही पुत्र की अपेक्षा पिता कहलाने लगा। इस तरह दोनों एक साथ उत्पन्न हुए। पिता और पुत्र समान हो गये। इसी प्रकार दादाजी और नाती के सम्बन्ध में कहा जायेगा। जिस समय विवाह हुआ उसी समय पति और पत्नि ऐसा कहने में आयेगा। तब दोनों का एक ही मुहूर्त्त में जन्म हुआ।

यही बात जीव के सम्बन्ध में भी है। कौन सा जीव बड़ा है और कौन सा जीव छोटा है? चींटी छोटी है और छिपकली उससे बड़ी है। परन्तु छिपकली छोटी भी है क्योंकि सर्प उससे भी बड़ा है और हाथी उससे भी बड़ा है। तो सत्य क्या है? इतिहास देखें, सभी जीवों का तो निर्णय करना और मुश्किल होगा कि बड़ा कौन है और छोटा कौन है? अगर जीव का लक्षण देखा जाए तो सभी जीवों में समान रूप से घटित होगा। 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि'[१] -द्रव्य नित्य है, अवस्थित है और पुद्गल को छोड़कर शेष सभी द्रव्य अरूपी हैं। नित्य हैं अर्थात् हमेशा से हैं और रहेंगे। सभी जीव हमेशा से है और रहेंगे। इस अपेक्षा देखा जाए तो कौन बड़ा और कौन छोटा? प्रवाह की अपेक्षा सभी समान हैं। सभी अनादि काल से चले आ रहे हैं और शेष जितनी भी सम्भावनाएँ हैं वे सब सापेक्ष हैं।

जीव के बाह्य रूप में संसार उलझा है और अपने आप के बड़प्पन को सिद्ध करने के लिए वह दूसरे से संघर्ष करता आ रहा है कि मैं बड़ा हूँ या कि तुम छोटे हो। यह विसंवाद चल रहा है। जो वास्तव में देखा जाए तो असत्य है।

सत्ता नहीं उपजती उसका न नाश, पर्याय का जनन केवल और ह्रास।
पर्याय है लहर वारिधि सत्य सत्ता, ऐसा सदैव कहते गुरूदेव वक्ता ॥[२]

सत्ता क्या चीज है? द्रव्य क्या चीज है और पर्याय क्या चीज है? यदि ऐसा पूछा जाए तो भगवान कहते हैं कि सत्ता या द्रव्य तो वह है जिसका कभी नाश नहीं होता और न ही जो कभी उत्पन्न होती है। वह तो शाश्वत है। पर्याय की उत्पत्ति और नाश अवश्य देखने में आते हैं।

पर्याय तो सागर में उठती लहरों के समान है, जो क्षणभंगुर है। उठती और मिटती रहती है। शाश्वत सत्य सत्ता तो सागर के समान है। पर इस सत्य, सत्ता को देखना सहज सम्भव नहीं है। इसे देखने के लिए श्रद्धा की आँखें खोलने का प्रयास करना होगा। सत्य, श्रद्धा की आँखों से ही दिखायी देता है। लोक व्यवहार में कहा जाता है कि मैं सत्य बोलता हूँ या तुम असत्य बोलते हो। लेकिन वास्तव में बोलने से सत्य आता ही नहीं है और जब सत्य बोलने में नहीं आता तो असत्य भी बोलने में नहीं आ सकता। फिर भी व्यवहार की कुछ सीमाएँ बनायी गयी हैं। उसी के माध्यम से सत्य और असत्य का व्यवहार चलता है। जैसे आप सागर के तट पर खड़े हैं तब देखने में क्या आ रहा है? लहरें देखने में आ रही हैं वे वहीं उठती हैं और वहीं समाती जाती है। कोई बालक यदि वहीं हो तो वह उन्हें पकड़ना चाहेगा। सीधा-सीधा दौड़कर हाथों से पकड़ने का प्रयास करेगा। जो कोई वहाँ सीनरी (दृश्यावली) देखने आये हैं वे उस दृश्य को आँखों के माध्यम से या कैमरे के माध्यम से पकड़ना चाहेंगे। कोई यदि कवि होगा तो वह शब्दों के माध्यम से कविता बनाकर उसे पकड़ने का प्रयास करेगा और आनन्दित होगा।

कोई ऐसा भी होगा जो सारे दृश्य को परख रहा होगा। इन सबके माध्यम से यदि पकड़ में आयेगा तो कथञ्चित् सत्य ही पकड़ में आयेगा। मैं पकड़ना भी एक तरह से कथंचित् सत्य कह रहा हूँ क्योंकि इसमें भी छोड़ना और ग्रहण करना है। वास्तव में सत्य तो छोड़ने और ग्रहण करने से परे है। लहर अच्छी लगती है, तो सोचो मात्र अच्छी लगती है या वास्तव में अच्छी है। लहर तो लहर है, वह बनती है और मिटती भी है। उसको सत्य सत्ता नहीं कहा जा सकता क्योंकि सत्ता तो अविनश्वर है। उसे पकड़ना भी सम्भव

नहीं है। जो पकड़ में आ रहा है, वह पूरी तरह सत्य नहीं है, एक प्रकार से असत्य है और इसलिए दु:खदायी है। सत्य ही एकमात्र सुखदायी है।

बालक लहरों को पकड़ना चाहता है तब उसे पालक (आप लोग) समझाते हैं कि पकड़ों नहीं, मात्र परखो। 'परखो' का एक अर्थ यह भी है कि 'पर' यानी दूसरा और 'खो' यानी खोना। अर्थात् जो पर है, दूसरा है उसे खो दो। ऐसा परखना यदि हो जाए तो असत्य खो जायेगा। असत्य को खोना ही वास्तव में परखना है। मोह को छोड़कर ही परखना सम्भव है। तभी सत्य हाथ आयेगा। वस्तु-तत्व को यदि आप परखना चाहो तो हमेशा मध्यस्थ होकर ही परखना होगा।

किसका स्वभाव क्या है? किसका क्या रूप है? क्या सत्य है और क्या असत्य है? यह जानने की कला तभी आ सकती है जब मोह का उपशम हो और मध्यस्थ भाव आये। जैसे स्वर्ण पाषाण में कितना स्वर्ण है और कितना पाषाण है यह बात उस विषय का ज्ञान रखने वाला परीक्षक या वैज्ञानिक जान लेता है और सब बता देता है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य को परखने की क्षमता हमारे पास है, उसे प्रकट करना आवश्यक है तभी सत्य का दर्शन होगा। सत्य सामने आ जाए तो हर्ष-विषाद नहीं होता। पिताजी सोचते हैं कि मैंने पुत्र को बड़ा किया, खिलाया-पिलाया और अज्ञानी से ज्ञानी बना दिया; अत: हम बड़े हैं। लेकिन जो सम्यग्दृष्टि होगा वह द्रव्य के प्रवाह को देखेगा कि यह तो अनादिकाल से चला आ रहा है। इतना ही नहीं जिस लड़के का पालन-पोषण किया जा रहा है, सम्भव है वही पूर्व में उसका पिता भी रहा हो। पुराणों में भी ऐसी बात (कथा) आती है। अध्यात्म भी यही कहता है।

'उत्पादव्ययध्रौव्युक्तं सत्'[३] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है सत्ता। एक बार एक विद्वान हमारे पास आये थे। कुछ दिन रहने के बाद जब जाने लगे तो कहा कि महाराज जी! मैं जा रहा हूँ। तो हमने कहा पण्डित जी, आना-जाना तो लगा हुआ है। वे हँसने लगे। बात समझ में आ गयी कि 'आना' तो हुआ 'उत्पाद', 'जाना' अर्थात् 'व्यय', लगा हुआ है यही द्रव्य की ध्रुवता है। यही सत् का लक्षण है। यह अनुभव में आ जाए तो बनने-मिटने पर हर्ष-विवाद नहीं होगा। छोटे-बड़े की बात नहीं आयेगी। कौन किसका पिता है? कौन किसका पुत्र है? यह मात्र पर्याय की ओर दृष्टिपात करने पर ही दिखायी देता है। यह मोह का परिणाम है। यही मोह छूट जाये तो

वास्तविकता मालूम पड़ने लगती है कि शरीर का अवसान होने पर यह सारे सम्बन्ध छूट जाते हैं। शरीर यहीं पड़ा रह जाता है और जीव क्षण भर में कहाँ पहुँच जाता है, किस रूप में उत्पन्न हो जाता है पता भी नहीं पड़ता। जिसके मरण के उपरान्त आप यहाँ रो रहे होते हैं वह कहीं और उत्पन्न होने की तैयारी कर रहा है।

कैसा वैचित्र्य है। एक नाटक की तरह रंगमञ्च पर जैसे विभिन्न पात्र आ रहे हैं, जा रहे हैं और देखने वाला जान रहा है कि यह सब नाटक है, फिर भी उसमें हर्ष विषाद करने लगता है। इसी प्रकार यह सारा संसार रङ्गमञ्च की तरह है। जो संसार से विरक्त है ऐसे वीतराग सम्यग्दृष्टि में यह सब नाटक की भाँति दिखायी पड़ने लगता है। वह सत्य को जान लेता है और पर्याय में मुग्ध नहीं होता। हर्ष-विषाद नहीं करना। हम थोड़ा सा भीतर देखने का प्रयास करें और अपना इतिहास समझें कि मैं कौन हूँ। किस तरह छोटे से बड़ा हो गया और एक दिन मरण के उपरान्त सारे के सारे लोग इस देह को जला आयेंगे मैं फिर भी नहीं जलूँगा। यह सत्य है।

जिनवाणी में इसी सत्य का प्ररूपण किया गया है। 'काल अनन्त निगोद मंझार, वीत्यो एकेन्द्रिय तन धार।'[५] अनन्तकाल हमने निगोद में व्यतीत कर दिया और एक इन्द्रिय की पर्याय धारण की। विचार करें तो अपने आप आँखें खुलने लग जायेंगी। निगोद की बात आयी तो यह घटना स्मृति में आ गयी कि चक्रवर्ती को चिन्ता हो गयी कि मेरे ये पुत्र तीर्थङ्कर के वंश में पैदा हुए और इस प्रकार गूँगे-बहरे कैसे हो सकते हैं? यहाँ तो भगवान की वाणी गलत सिद्ध हो जायेगी। तब भगवान ने कहा कि हे चक्री! तुम्हें मोह ने घेर रखा है इसलिए सत्य दिखाई नहीं पड़ता। सत्य यह है कि ये सभी भव्य हैं और निकट भव्य हैं। ये तुम्हारे ही सामने दीक्षित होकर मुक्ति को प्राप्त हो जायेंगे।

चक्रवर्ती सुनकर दंग रह गये और वही हुआ भी। सभी ने भगवान ऋषभदेव के चरणों में दीक्षा का निवेदन कर दिया और बोले कि सभी से क्या बोलना, हम तो सिर्फ आप ही से बोलेंगे। सभी से बोलने के लिए हम गूँगे हैं। दीक्षित होकर उन्होंने तप के द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति की और मुक्ति का सम्पादन कर दिया। चक्रवर्ती भरत ने पूछा कि भगवन्! यह सब कैसे हुआ? इनका इतिहास क्या है? तब भगवान ने बताया कि ये सभी जीव निगोद से आकर सीधे मनुष्य-भव धारण करके तुम्हारे पुत्र बनकर उत्पन्न हुए हैं। इनका वैराग्य इतना था कि किसी से नहीं बोले और इन्होंने अपना

कल्याण कर लिया। तुम यहाँ समवशरण में चार-चार बार दिव्य ध्वनि सुन रहे हो और चार-चार बार लोगों को प्रवचन सुना रहे हो। पर इतने मात्र से क्या होगा? उन्होंने कमाल कर दिया। निगोद से सीधे निकलकर आठ साल के भीतर-भीतर अपने-आपको सँभाला और आठ वर्ष में ही दीक्षित होकर मुक्ति प्राप्त कर ली।

कहीं-कहीं पर निगोद से आकर बीच में एक पर्याय इन्द्रगोपादि भी धारण की है, ऐसी चर्चा भी आती है लेकिन सीधे निगोद से आये हों, ऐसा भी सम्भव है। निगोद भी दो तरह का है- एक तो नित्य-निगोद है जहाँ से जीव आज तक नहीं निकला और दूसरा इतर-निगोद है जहाँ से जीव निकलकर चारों गतियों में भ्रमण कर चुका है। हमें सीखने की बात यही है कि सत्य को जानने वाला फालतू बोलता नहीं है। वे सभी चक्रवर्ती के पुत्र दीक्षित होने तक दीक्षा से पूर्व किसी से नहीं बोले। उन्होंने सोचा कि जो संसार से विरक्त नहीं है उनसे एक विरक्त व्यक्ति का बोलने का प्रयोजन ही किया है? सत्य तो बोलने से प्राप्त नहीं होगा। पाप-क्रियाओं से मौन लेकर ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है।

आज तो सारा संसार जिसमें कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है, उसी के पीछे पड़ा है। सत्य का बोध नहीं करता है। जल के अथाह समूह को सागर कहा जाता है उसमें कितनी भी लहरें उठें या मिटें लेकिन वह सागर बनता मिटता नहीं है। वह ज्यों का त्यों रहा आता है। कोई लहरों को देखकर खेद करता है, बालक हो तो देखकर हर्षित होता है, लेकिन जो संसार से विरक्त है, सत्य को जानता है, वह सोचता है कि जीवन भी इस प्रकार लहरों की तरह प्रतिपल मिटता जा रहा है। अनन्तकाल यूँ ही व्यतीत हो गया। अनन्त सुखों का भण्डार यह आत्मा अज्ञानता के कारण सत्य को नहीं समझ पा रहा है।

दुनिया में सभी लोग दुनिया को देख रहे हैं। दुनिया को पहचानने की चेष्टा में लगे हैं लेकिन सत्य को पहचानने की जिज्ञासा किसी के अन्दर नहीं उठती। बार-बार कहने-सुनने के उपरान्त भी ज्ञान नहीं होता, तो यह मोह की प्रबलता का ही प्रभाव समझना चाहिये। इस मोह से बचने का उपाय यही है कि हम संसार से विरक्त होकर वस्तु तत्व का चिन्तन करें। वस्तु-तत्व की वास्तविकता का चिन्तन ही हम लोगों के कल्याण के लिए एकमात्र आधारशिला है।

'जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्'[६] जगत् के स्वभाव के बारे में सोचो तो संवेग, आयेगा अर्थात् संसार के दुःखों से बचने का भाव उत्पन्न

होगा और शरीर के स्वभाव के बारे में विचार करोगे तो वैराग्य आयेगा। शरीर के प्रति, भोगों के प्रति निरीहता भी आ जायेगी। यही सम्यग्ज्ञान का माहात्म्य है। आज तो मात्र ज्ञान की चर्चा है लेकिन अकेले ज्ञान और सम्यग्ज्ञान में अन्तर है। शरीर के बारे में सम्यग्ज्ञान यदि हो तो ही निरीहता आयेगी। अकेले शरीर की जानकारी कर लेने मात्र से कुछ नहीं होता। कोई एम.बी.बी.एस. का करने वाला शरीर के एक-एक अङ्ग के बारे में जानता है और कोई-कोई तो एक-एक अङ्ग विशेष में स्पेस्लिस्ट भी हो जाते हैं। लेकिन इतना सब जान लेने के बाद भी उसी नश्वर शरीर में रमे रहते हैं। ऐसा कैसा ज्ञान है कि भीतरी सभी घृणास्पद पदार्थों को देख लेने के बाद भी उससे विरक्ति नहीं होती। असत्य को जान कर भी उसे छोड़ने का भाव नहीं आता। बल्कि असत्य के सम्पादन में ही लोग अपना ज्ञान लगाते हैं। कोई दुकान में असत्य का सम्पादन कर रहा है, तो कोई वकील बनकर कोर्ट में कर रहा है और कोई डॉक्टर बनकर अस्पताल में कर रहा है। प्रत्येक का लक्ष्य मात्र पैसा हो गया है। विषयों का सम्पादन हो रहा है।

लौकिक दृष्टि से भले ही उन्हें प्रबुद्ध कहा जाता है, अनुभवी और शोध करने वाला कहा जाता है। लेकिन सभी की चेष्टा यही रहती है कि पैसा किस तरह कमाया जाए और दुनिया को किस तरह आकर्षित किया जाए। किन्तु परमार्थ की दृष्टि से यह ज्ञान कार्यकारी नहीं है। सही ज्ञान-कला तो वह है जिसके द्वारा आत्मिक शान्ति मिलती है। 'क' यानी आत्मसुख और 'ला' यानी लाने वाली, अर्थात् आत्मसुख लाने वाली कला ही वास्तविक 'कला' है। सांसारिक जितनी भी कलाएं है वे सब संसार के पदार्थों को जुटाने वाली और आत्मा को दुख के गर्त में ले जाने वाली हैं। इस सत्य का भान आज किसे हैं?

इसीलिए आचार्य कहते हैं कि छोटा-बड़ा कोई नहीं है। सभी समान हैं। यही सत्य है और जहाँ पर यह समानता की दृष्टि आ जाती है वहाँ पर सभी प्रकार के झगड़े समाप्त हो जाते हैं। जहाँ-विषमताएँ हैं वहीं पर झगड़ा है, विसंवाद है और विषमता तो बुद्धिजन्य है। विषमता वस्तुजन्य नहीं है। वस्तु न अपने में बड़ी है न छोटी है, वह तो अपने में समान है। जैसे देवों में ऊपर जो अहमिन्द्र हैं उनके वहाँ कलह नहीं है। वे बहुत शान्त है, क्योंकि सभी समान-रूप से इन्द्र हैं। कोई किसी से कम या अधिक पद वाला नहीं है।

समानता रूपी इस सत्य के साथ ही सुख और शान्ति का स्त्रोत फूट जाता है। हम सभी यदि पर्यायों की विषमता को गौण करके द्रव्य की समानता को मुख्यता दें तो यहाँ किसी जीव के प्रति बैर और किसी के प्रति राग हो ही नहीं सकता। सत्यार्थयुक्तं सत्यम्-जो सत् से युक्त है वही सत्य है और असत् से युक्त है अर्थात् जो है ही नहीं, उसकी कल्पना में जो उलझा है वह असत्य है। वस्तुतः वस्तु अच्छी बुरी नहीं होती, हमारी कल्पना के द्वारा ही उसमें अच्छे बुरे का भेद आ जाता है। किसी जीव का लक्षण मूर्ख या बुद्धिमान, छोटा या बड़ा हो, ऐसा कहीं नहीं आता। उपयोगो लक्षणम्[6] जीव का लक्षण, उपयोगवान् होना है अर्थात् जो ज्ञानदर्शन से युक्त है, वह जीव है। प्रत्येक समय हमें इस सत्य की ओर ही दृष्टिपात करना चाहिये।

मोह के प्रभाव से संसारी जीव स्वयं को-

मैं सुखी-दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव ।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ॥[7]

ऐसा मानता है और इसी मोह चक्र में फँसा प्रत्येक जीव संसार में निरन्तर चक्कर काटता रहता है, घूमता रहता है। लेकिन जो सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी है, जो वैराग्यवान् हैं वे संसार के स्वभाव को जानते हैं और संसार में रहते हुए भी मोह के चक्कर में नहीं आते। जैसे मेले में आपने हिण्डोलना देखा होगा। बच्चे बड़े सभी उसमें बैठ जाते हैं और हिण्डोलना वाला उसे घुमाता है। सभी का मनोरञ्जन होता है लेकिन हिण्डोलना घुमाने वाला मात्र घूमते हुए हिण्डोलने को देखता रहता है उसमें मनोरञ्जन नहीं मानता। उसी प्रकार आप लोग भी चाहें तो जो दुनिया में हिण्डोलने में बैठे हैं उन्हें बैठे रहने दें और स्वयं को मात्र देखने जानने वाला बनाये रखने का प्रयास करें। तो संसार का चक्कर धीरे-धीरे समाप्त कर सकेंगे।

बंधुओं! पर्यायमूढ़ता तो बच्चों जैसा घूमने वाला खेल है और द्रव्य के स्वरूप में लीन होना अर्थात् जानने-देखने रूप स्वभाव में स्थिर होना इस हिण्डोलना घुमाने वाले जैसा काम है। द्रव्य तो प्रतिक्षण परिणमनशील है। परिवर्तन प्रतिक्षण हो रहा है लेकिन उस परिवर्तन में हम अपने आप को मिटने वाला या उत्पन्न होने वाला समझ लेते हैं। यही हमारी गलती है। जन्म होने में सुख और मरण में दुःख का अनुभव करने का अर्थ यही है कि अभी हिण्डोलने में बैठने का खेल चल रहा है। वह मोह की चपेट जब तक है तब तक सुख शान्ति मिलने वाली नहीं है।

जैसे पीपल का पत्ता बिना हवा के ही हिलता रहता है, लेकिन पीपल का तना, तूफान आने पर भी नहीं हिलता। इसी प्रकार द्रव्य कभी अपने स्वभाव में हिलता डुलता नहीं है, पर्यायें झूलती रहती है और झूलती हुई पर्यायों में आप भी यूँ ही झूलने लगते हैं और भूल जाते हैं कि यह सारा का सारा परिणमन द्रव्य का ही है। द्रव्य का परिणमन कभी रुकता नहीं है वह तो प्रतिक्षण इतनी तीव्रता से होता रहता है कि उसकी सूक्ष्मता को पकड़ पाना सहज सम्भव नहीं है। उसे पकड़ पाने के लिए बड़ी पैनी दृष्टि चाहिये। वह दृष्टि तभी आयेगी जब हमारी दृष्टि बाह्य जगत् से हटकर सूक्ष्मता की ओर देखने का प्रयास करेगी।

पाषाण में स्वर्ण उसी को दिखता है जिसे स्वर्ण की जानकारी है और जो पाषाण को स्वर्ण से पृथक् जानता है।

संसार में सब कुछ देखते हुए भी कोई चाहे तो शान्त और मध्यस्थ रह सकता है। पर इसके लिए संसार के प्रत्येक पदार्थ के प्रति अपनी दृष्टि को समीचीन बनाना होगा। कई दिन से लगातार उपदेश सुनते-सुनते एक व्यक्ति को संसार के प्रति वैराग्य हो गया और उसने जाकर अपनी पत्नी से कहा कि संसार की यथार्थता मुझे ज्ञात हो गयी है, इसलिए मैं जा रहा हूँ। अपना कल्याण करूँगा। पत्नी बोली बहुत अच्छा। हम भी यहाँ रहकर क्या करेंगे। हम भी साथ चलते हैं। उस व्यक्ति ने समझाया कि यह तो कोई बात नहीं हुई। मुझे तो उपदेश सुनकर वैराग्य हुआ है। तुमने तो उपदेश कुछ सुना ही नहीं है। पत्नी बोली कोई बात नहीं, उपदेश सुनने वाले आपको देखना ही पर्याप्त हैं। आपका वैराग्य ही मेरे वैराग्य में कारण बन गया है।

दोनों प्राणी घर से विरक्त होकर जङ्गल की ओर चल पड़े। पति आगे-आगे चल रहा था और पत्नी पीछे-पीछे चल रही थी। चलते-चलते पति को सामने कुछ दिखायी पड़ गया और उसने झुककर थोड़ी धूल उस पर डाल दी। उसी समय पीछे से आकर पत्नी ने देख लिया और पूछा लिया कि क्या बात है? क्या था? पति ने सोच बताना ठीक नहीं है। पता नहीं बताने से उसके मन में लालच न आ जाये इसलिए कह दिया कि कुछ नहीं था। पत्नी को हँसी आ गयी, बोली मैंने सोचा था कि आपका वैराग्य पूरा है पर लगता है अभी कुछ कमी है। तभी तो मिट्टी के ऊपर मिट्टी डाल रहे थे। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में तो सोने की डली भी मिट्टी ही है। कोई मिट्टी काली होती है, यह पीली मिट्टी है। यह सुनकर पति चकित रह गया और कहने लगा कि मैंने तो समझा था कि स्त्रियों को स्वर्ण के आभूषणों का लालच कुछ

अधिक ही रहता है इसलिए तुम्हें नही बताया, पर तुमने तो मुझे भी पीछे छोड़ दिया। आप स्वयं को पुरुष मान रहे हैं और मुझे स्त्री मान रहे हो। अभी आप तीन लोक के पति नहीं हो सकते। अभी तो आपका वैराग्य कमजोर है। वैराग्य की बात करना और वैराग्य से बात करना, इन दोनों में बहुत अन्तर है। वस्तु तत्त्व जिसको सही मायने में पकड़ में आ गया है वही सत्य के माध्यम से वैराग्य से कभी नहीं डिगता।

यह वस्तु के उत्पन्न होने में हर्ष और नाश में विषाद नहीं करता बल्कि वह सत्य को जानता है। आज 'उत्तम-सत्य' के दिन मैं आपसे यही कहना चाहूँगा कि संसार को आप एक बार सत्य की दृष्टि से देखें। केवल मिटने के अलावा संसार कुछ भी तो नहीं है। जो स्थायी है वह दिखने में नहीं आता और जो दिखने में आ रहा है, वह निरन्तर मिट रहा है। यही संसार है। हम संयोगज पर्यायों से दृष्टि को हटाकर मूल की ओर देखें। तो तेरा-मेरा, छोटा-बड़ा आदि सभी विचार आपों आप शान्त हो जायेंगे। सभी के प्रति समान भाव आने से परस्पर उपकार का भाव आयेगा। सभी परस्पर एक दूसरे के निकट आयेंगे, और इस बहाने वस्तु तत्त्व को और अच्छे ढंग से समझना सरल हो जाएगा।

जैसे आप भोजन करते हैं तो भोजन करते हुए भी बीच-बीच में साँस लेना आवश्यक है, लेते भी हैं। पानी पीते हैं तो साँस भी लेते रहते हैं। ऐसा नहीं है कि पानी पीना छोड़कर अलग से साँस लें, फिर पानी पियें। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग में आरूढ़ होने के उपरान्त खुद भी धर्मामृत पीता रहता है और यदि कोई दूसरा आ जाता है तो उसे भी पिलाता है। जो सत्य को जान लेता है वह स्वयं भी लाभान्वित होता है, साथ ही दूसरों को भी उसके माध्यम से सत्य का दर्शन होने लगता है। यही सत्य है और सही सत्य की महिमा भी है।

सत्यधर्म-

१. तत्वार्थसूत्र ५/४
२. निजानुभवशतक, ३६ (आचार्य विद्यासागर-कृत)
३. तत्त्वार्थसूत्र ५/३०
४. छहढाला (प्रथमढाल-३)
५. तत्त्वार्थसूत्र ७/१२
६. तत्त्वार्थसूत्र २/८
७. छहढाला (द्वितीयढाल-४)

□□

उत्तम संयम

वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण ।
परिणममाणस्स पुणो,संजयधम्मो हवे णियमा ॥

□ **व्रत व समितियों का पालन, मन-वचन-काय की प्रवृति का त्याग, इन्द्रियजय; यह सब जिसको होते हैं, उसको नियम से संयम धर्म होता है। (७६)**

'अनाश्रिता लता स्वयमेव लीयते'- आश्रयहीन बेल अपने जीवन की अन्तिम बेला आने से पूर्व स्वयमेव ही समाप्त हो जाती है। स्वयं अपनी शक्ति के द्वारा जमीन से रस खींचकर अपना विकास करती है। इसके उपरान्त भी वह बहुत जल्दी समाप्त हो जाती है, क्योंकि वह अनाश्रित होती है। किन्तु बाग का होशियार माली जब उस बेल के फैलते ही उसे लकड़ी का सहारा देकर हल्के से बाँध देता है तब वह उर्ध्वगामी होकर बहुत ऊँचाई पर पहुँच जाती है। हल्का सा वह बाँधा गया, बन्धन उसे उन्नति में बाधक नहीं बनता अपितु ऊँचे बढ़ने में साधक ही बनता है।

अगर विचार करें, तो ज्ञात होगा कि यह जो सहारा दिया गया उस बेल को, वह सहारा अपने आप में है और बेल का बढ़ना अपने आप में है। फिर भी यदि सहारा नहीं मिलता तब वह बेल निश्चित ही उर्ध्वगामी न होकर ऊधोगामी हो जाती और शीघ्र ही मरण को प्राप्त हो जाती। या यूँ कहिये कि उसका असमय में ही जीवन समाप्त हो जाता। यह तो एक उदाहरण है, आप समझ गये होंगे सारी बात। जिस दिशा की ओर बढ़ने की हमारी भावना हो तथा जो हमारी दृष्टि या लक्ष्य हो, उसके अनुरूप फल पाने के लिए हमें एक सशक्त सहारे की और हल्के से बन्धन की आवश्यकता तो होती है। आज का संयम धर्म आलम्बन और बन्धन दोनों रूपों में है।

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥[१]

आचार्य समन्तभद्र स्वामी बहुत अच्छी बात हमारे लिए कहकर गये हैं कि जिसका मोहरूपी अन्धकार समाप्त हो गया है, जिसे सम्यग्दर्शन का लाभ होने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति सहज हो गयी है, इसके उपरान्त वह क्या करे? जब तक अन्धकार का अभाव नहीं हुआ था, सम्यक्त्व का सूर्य नहीं उगा

था, तब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े वह सोच रहा था और सोचना उसका ठीक भी था कि ज्यों ही सूरज का उदय होगा, अन्धकार हटेगा त्यों ही उसके कदम आगे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ जायेंगे। अब जब प्रकाश हो गया, अन्धकार हट गया तो अब क्या करें? अब यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये कि क्या करें? जीवन की उन्नति का विचार रखने वाले के लिए प्रकाश अपने आप बता देता है कि क्या करना आवश्यक है? ठीक ऐसे ही जैसे कि मन्दाग्नि समाप्त होने पर भूख लगती है और अपने आप ज्ञात हो जाता है कि मुझे क्या करना है? सम्यग्दृष्टि को तो यह पूछने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती कि अब क्या करना है?

शान्तिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि-

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन् पादद्वयं ते प्रजा,
हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः।
अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमण्डलो,
ग्रैष्मः कारयतौन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः॥[२]

हे भगवन्! मैंने जो आपके चरणों की शरण गही है वह मात्र यह सोचकर नहीं कि आपके चरण बहुत सुन्दर हैं, बहुत अच्छे हैं, बहुत उपकारी हैं, उनके प्रति स्नेह करना चाहिये, और न ही आपके चरणों ने मुझे आपके पास आने का कोई सन्देश भेजा है पर फिर भी मैं आपके ही पास आया हूँ, अन्यत्र नहीं गया। इसका कारण तो एक मात्र यह विचित्र कर्मों के समूह से सहित संसार रूपी भंयकर समुद्र है; क्योंकि अत्यन्त प्रचण्ड किरणों से धरती को तपा देने वाला ग्रीष्मकाल का सूर्य स्वयमेव ही चन्द्रमा की किरणों से, पानी से और छाया से अनुराग करा देता है। कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अनादिकाल की प्यास और पीड़ा ही मुझे यहाँ तक ले आयी है। आपके प्रति अनुराग सहज ही हो गया। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उदय होते ही चरण शीघ्र ही, मञ्जिल की ओर चल पड़ते हैं। राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए साधु-पुरुष चारित्र का आश्रय सहज ही ले लेते हैं।

आज संयम का दिन है। उत्तम संयम का दिन है। आप लोगों के लिए अभी तक संयम एक प्रकार से बन्धन ही लगा करता है। लेकिन जैसे उस लता के लिए लकड़ी आलम्बन और बन्धन के रूप में उसके अपने विकास के लिए आवश्यक है। उसी प्रकार दर्शन और ज्ञान को अपनी चरम सीमा अर्थात् मोक्ष तक पहुँचाने वाला ही संयम का आलम्बन और बन्धन है।

उसका सहारा लेते समय ध्यान रखना कि जैसे योग्य खाद्य और पानी देना भी पौधे के लिए अनिवार्य है, अकेले सहारे या बन्धन से काम नहीं चलेगा, वैसे ही संयम के साथ शुद्ध भाव करना भी अनिवार्य है।

आज तक संयम के अभाव में ही इस संसारी-प्राणी ने अनेकों दुःख उठाये हैं। जो उत्तम संयम को अंगीकार कर लेता है, साक्षात् या परम्परा से वह मोक्ष अवश्य पा लेता है। आत्मा का विकास संयम के बिना सम्भव नहीं है। संयम वह सहारा है जिससे आत्मा ऊर्ध्वगामी होती है। पुष्ट और सन्तुष्ट होती है। संयम को ग्रहण कर लेने वाले की दृष्टि में इन्द्रिय के विषय हेय मालूम पड़ने लगते हैं। लोग उसके संयमित जीवन को देखकर भले ही कुछ भी कह दें, पागल भी क्यों न कह दें, तो भी वह शान्त भाव से कह देता है कि आपको यदि खाने में सुख मिल रहा है तो मुझे खाने के त्याग में आनन्द आ रहा है। मैं क्या करूँ? यह तो अपनी-अपनी दृष्टि की बात है। सम्यग्दृष्टि संयम को सहज स्वीकार करता है। इसलिए वह सब कुछ छोड़कर भी आनन्दित होता है।

प्रारम्भ में तो संयम बन्धन जैसा लगता है लेकिन बाद में वही जब हमें निर्बन्ध बना देता है, हमारे विकास में सहायक बनता है, हम ऊपर उठने लगते हैं और अपने स्वभाव को प्राप्त करके आनन्द पाते हैं, तब ज्ञात होता है कि यह बन्धन तो निर्बन्ध करने का बन्धन था। प्रारम्भ में मन और इन्द्रियों की स्वच्छन्दता को दूर करने के लिए संयम का बन्धन स्वीकार करना हमारे हित में है।

जब हम बचपन में साइकिल चलाते थे, तब साइकिल चलाना तो आता नहीं था और मन करता था कि साइकिल चलायें और पूरी गति से चलायें, तभी आनन्द आयेगा। साइकिल बड़ी थी और सीट पर हम बैठ नहीं पाते थे, क्योंकि शरीर की ऊँचाई कम थी और यदि सीट पर बैठ भी जायें तो पैर पैडिल तक पहुँच नहीं पाते थे। तब पहले-पहले पीछे कोई व्यक्ति पकड़ता था और आगे भी एक हाथ से हैण्डिल पकड़ता था। धीरे-धीरे हैण्डिल पकड़ना आने लगा लेकिन बिना सहारे चला नहीं पाते थे। फिर पैरों में जब अभ्यास हुआ और हाथ से पकड़ने की क्षमता भी आ गयी और अपने बोझ को सँभालने का साहस भी आ गया तो हमने कहा कि भइया! तुम पकड़ते क्यों हो? छोड़ दो। लेकिन कुछ दिन वह पीछे से सहारा देकर पकड़े रहता था। कभी जरा छोड़ता था तो गिरने की नौबत आ जाती थी। फिर उसने कहा

कि देखो मैं इस तरह पकड़े हूँ कि तुम्हें चलाने में बाधा नहीं आती। पीछे पकड़कर मैं खींचता नहीं हूँ, मैं तो मात्र सहारा दिये रहता हूँ।

यही संयम का बन्धन ऐसा ही सहारा देने वाला है। फिर जब पूरी तरह अपने बल पर चलने की क्षमता आ गयी तो उसने अपने आप छोड़ दिया। लेकिन समझा दिया कि ध्यान रखना मोड़ आने पर या किसी के सामने आ जाने पर ब्रेक का सहारा अभी भी लेना पड़ेगा। संयम के पालन में निष्णात हो जाने पर भी प्रतिकूल परिस्थितियों में विशेष सावधानी की आवश्यकता पड़ती है।

एक बार आनन्द लेने के लिए गाड़ी को हम चढ़ाव पर लेकर गये, फिर उसके उपरान्त उतार पर गाड़ी को लगा दिया और पाँच-छह पैडल भी तेज-तेज चला दिया। गति ऐसी आ गयी कि अब सँभालना मुश्किल लगने लगा। आगे एक मोड़ था और सँभालना नहीं आ रहा था। अचानक ब्रेक लगाऊँ तो गिरने का डर था। तब एक पगडण्डी जो सड़क के बाजू से जाती थी, जो थोड़ी चढ़ाव वाली थी। बस! हमने उस और हैण्डिल मोड़ दिया और गाड़ी उस पगडण्डी पर जाकर धीरे-धीरे थम गयी। अगर ऐसे ही छोड़ देता तो नियम से गिरना पड़ता। अर्थ यह हुआ कि संयम के साथ सावधानी की बड़ी आवश्यकता है।

आप लोग तो अभी ब्रेक लगाये बिना ही गाड़ी को दौड़ा रहे हैं और नीचे जाते हुए भी आँख मींचे बैठे हैं। अनन्तकाल यूँ ही व्यतीत हो गया। आप सोचते हैं कि हम सुरक्षित रह जायेंगे, लेकिन आप स्वयं सोचो, क्या संयम के बिना जीवन सुरक्षित रह पायेगा? जैसे गाड़ी सीखने-समझने के उपरान्त भी संयम और सावधानी की बड़ी आवश्यकता है, ऐसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो जाने के उपरान्त भी संयम की बड़ी आवश्यकता है। कोई चैम्पियन भी क्यों न हो, उसे भी वाहन चलाते समय संयम रखना पड़ता है अन्यथा दुर्घटना होने में देर नहीं लगती। सड़क के नियमों का पालन न करें तो भी दुर्घटना हो सकती है। जैसे सड़क पर चलने वाले हर यात्री को सड़क के नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है, उसी प्रकार मोक्ष के मार्ग में चलने वाले के लिए नियम-संयम का पालन अनिवार्य है।

लेटे हुए व्यक्ति को कोई विशेष सावधानी की आवश्यकता नहीं पड़ती, पर बैठे हुए व्यक्ति को थोड़ी सावधानी की आवश्यकता है।